

ध्वाः

दुर्लभबौद्ध ग्रन्थशोधपत्रिका

Journal

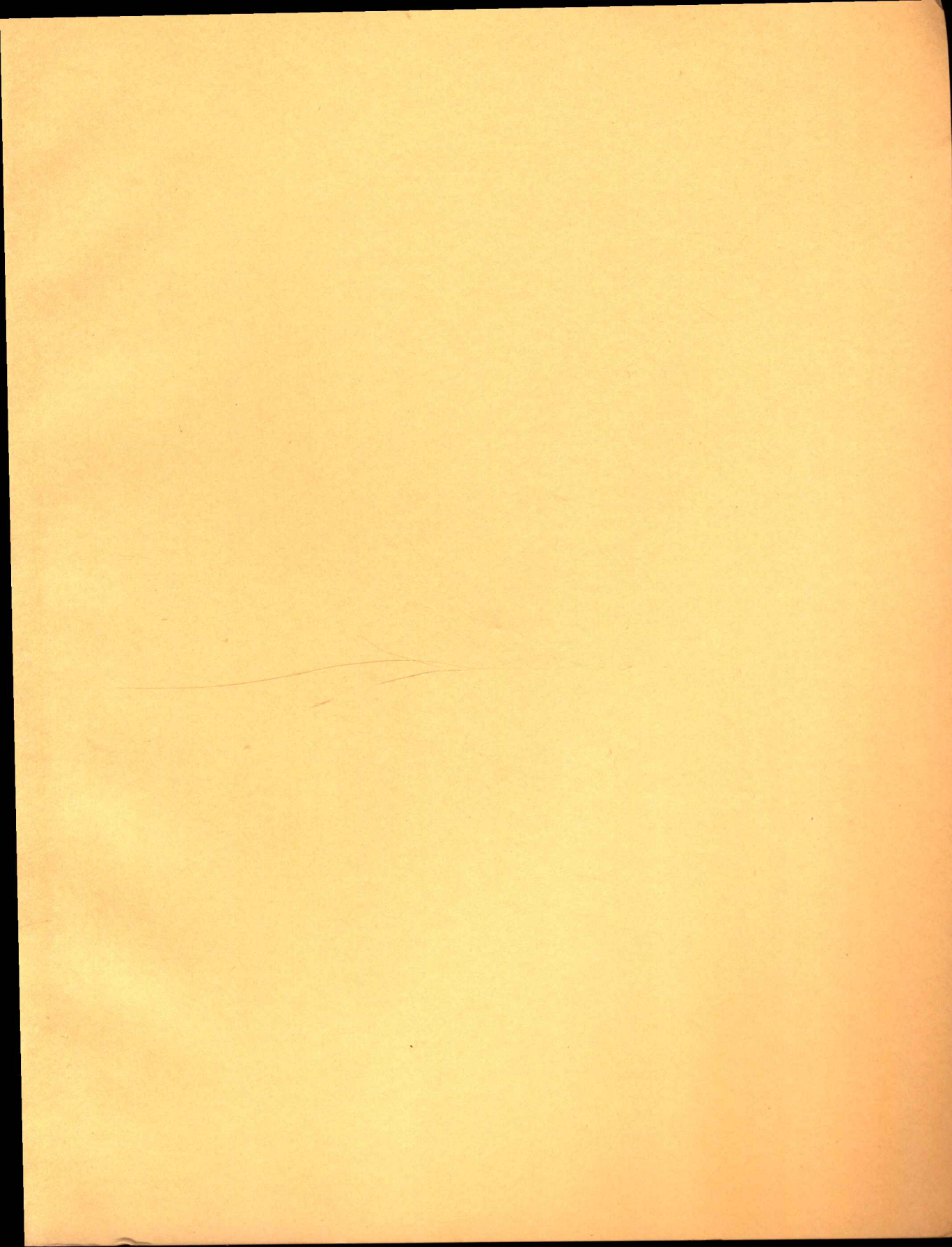
of

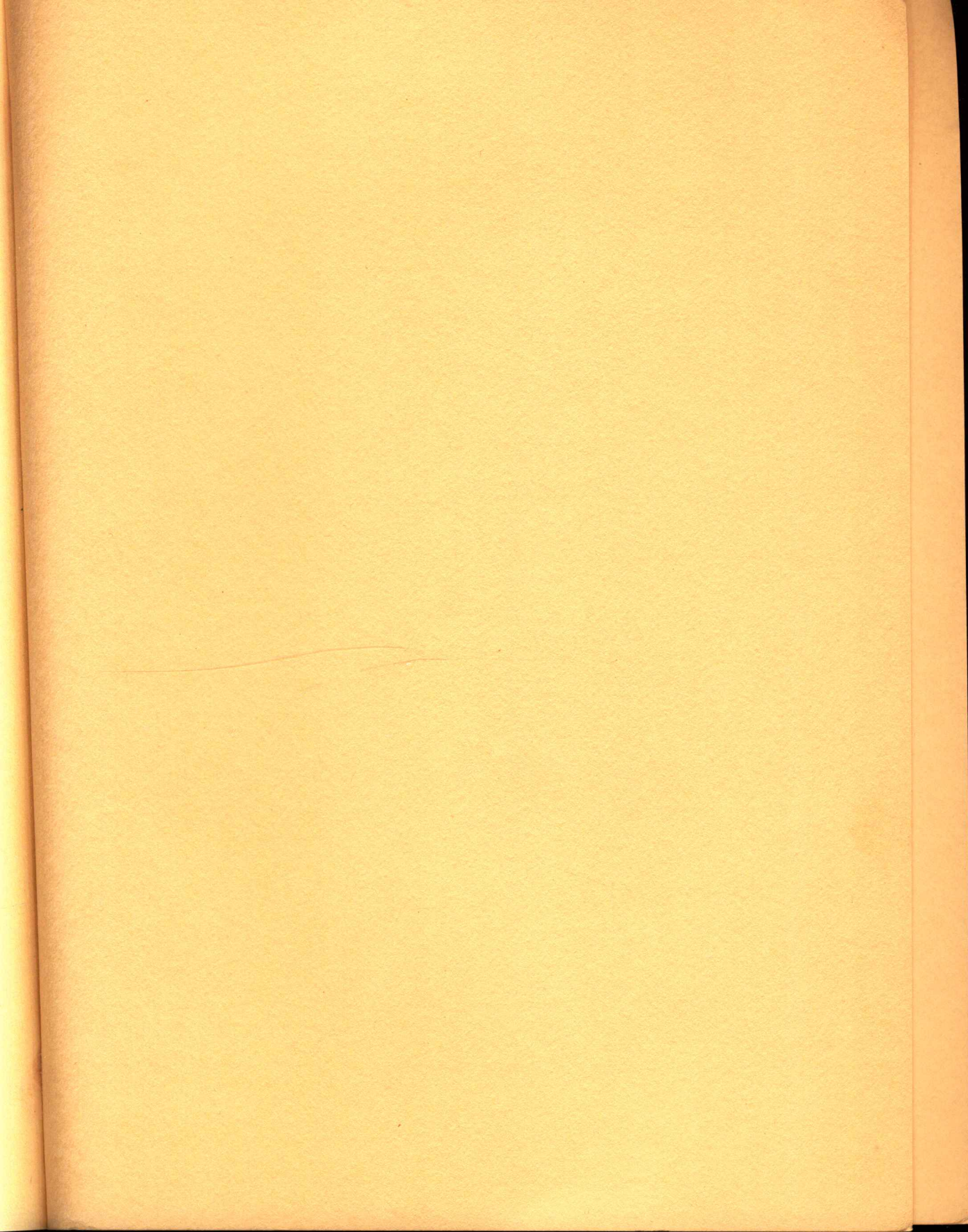
Rare Buddhist Texts Research Unit

35

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

2003





धौः

दुर्लभबौद्ध ग्रन्थशोधपत्रिका

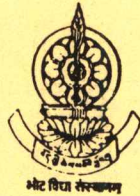
35

सम्पादक

डवड समतेन

निदेशक

जनार्दन पाण्डेय



दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५४७

वैशाख पूर्णिमा

ख्रीस्ताब्द २००३

सहायक-मण्डल

ठाकुरसेन नेगी
ठिनलेराम शाशनी
छोग दोर्जे
विजयराज वज्राचार्य

बनारसी लाल
छेरिंग डोलकर
रंजन कुमार शर्मा

३५वाँ अंक, ५५० प्रतियाँ, २००३

मूल्य : ₹० ८५.००

© केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, २००३

प्रकाशक :

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी-२२१ ००७

मुद्रक :

सुरभि प्रिन्टर्स
सी० २७/२७३, इण्डियन प्रेस कालोनी
मलदहिया, वाराणसी-२२१ ००२

Dhīh
Journal
of
Rare Buddhist Texts Research Project

35

Editors

NGAWANG SAMTEN
Director

JANARDAN PANDEY



RARE BUDDHIST TEXTS RESEARCH UNIT
Central Institute of Higher Tibetan Studies
Sarnath, Varanasi

B.E. 2547

VAIŚĀKHA PŪRNIMĀ

C.E. 2003

Co-Editors

Thakur Sain Negi
Thinlay Ram Shashni
Chhog Dorjee
Vijay Raj Vajracharya

Banarsi Lal
Tsering Dolkar
Ranjan Kumar Sharma

Vol. xxxv, 550 copies, 2003

Price : Rs. 85.00

© Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi, 2003

Published by:

Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221 007

Printed by:

Surabhi Printers
C. 27/273, Indian Press Colony
Maldahia, Varanasi-221 002

धी: XXXV

विषयानुक्रमणी

स्तोत्र—

1. नमस्काराष्टकम्	1-1
2. भगवन्नामाष्टोत्तरशतस्तोत्रम्	2-3
3. पञ्चाक्षरस्तोत्र	4-4
बौद्धतन्त्र वाङ्मय का परिचय (सम्पुट एवं पञ्चक्रम) — बनारसी लाल	5-14
बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का अभिप्राय — ठिनलेराम शाशनी	15-44
आर्यचतुर्धर्मनिर्देशसूत्रम् — जलछेन नमडोल	45-52
बौद्ध-अष्ट महाचैत्यों का स्वरूप एवं भेद — लोसंग दोर्जे	53-62
दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री — ठाकुरसेन नेगी	63-83
हेवज्रसाधनोक्त ज्ञानचक्र विवेचन — ठाकुरसेन नेगी	84-98
तन्त्र की सामान्य एवं संक्षिप्त व्यवस्था (5) — छेरिंग डोलकर	99-110
ग्रन्थ समीक्षा— जनार्दन पाण्डेय	111-116
सम्यक्सम्बुद्धभाषितप्रतिमालक्षण (संक्षिप्त परिचय) — बनारसी लाल	117-136
आत्रेयतिलकम्	137-154
निबन्धों का संक्षिप्त परिचय (अंग्रेजी)	155-158
निबन्धों का संक्षिप्त परिचय (तिब्बती)	159-164

वक्तुं न शक्यते सौख्यं कुमार्या सुरतं विना ।
यौवने सुरतं प्राप्य स्वतो वेत्ति महासुखम् ॥
एवं न शक्यते वक्तुं समाधिरहितैः सुखम् ।
समाधावक्षरं प्राप्य स्वतो विन्दन्ति योगिनः ॥

(सेकोद्देश-136-137)

जयति सुखराज एकः कारणरहितः सदोदितो जगताम् ।
यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः ॥

(व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धिः-1)

नमस्काराष्टकम्

[यह स्तोत्र सम्पुटतन्त्र के द्वितीय पटल के प्रथम प्रकरण (22-29) से लिया गया है। यह वहाँ अभिषेक के प्रसंग में शिष्य द्वारा व्यवहृत है। स्तोत्र का यह शीर्षक सम्पादक द्वारा प्रदत्त है।]

नमस्ते शून्यतागर्भ सर्वसंकल्पवर्जित ।
सर्वज्ञज्ञानसन्दोह ज्ञानमूर्ते नमोऽस्तु ते ॥ 1 ॥

जगदज्ञानविच्छेद शुद्धतत्त्वार्थदेशक ।
धर्मनैरात्म्यसंभूत वज्रसत्त्व नमोऽस्तु ते ॥ 2 ॥

संबुद्धा बोधिसत्त्वाश्च त्वत्तः पारमितागुणाः ।
संभवन्ति सदा नाथ बोधिचित्त नमोऽस्तु ते ॥ 3 ॥

रत्नत्रयं महायानं त्वत्तः स्थावरजङ्गमम् ।
त्रैधातुकमिदं सर्वं जगद्दीर नमोऽस्तु ते ॥ 4 ॥

चिन्तामणिरिवोद्भूत जगदिष्टार्थसिद्धये ।
सुगताज्ञाकर श्रीमान् बुद्धपुत्र नमोऽस्तु ते ॥ 5 ॥

ज्ञातुं मेऽनुत्तरं तत्त्वं त्वत्प्रभावाद् गुणार्णव ।
वज्राभिषेकेण सर्वज्ञ प्रसादं कुरु साम्प्रतम् ॥ 6 ॥

रहस्यं सर्वबुद्धानां दर्शितं वज्रधर्मिणा ।
यथा श्रीचित्तवज्रेण तथा नाथ प्रसीद मे ॥ 7 ॥

भवत्यादाम्बुजं त्यक्त्वा नान्या मे विद्यते गतिः ।
तस्मात् कुरु दयां नाथ संसारगतिनिर्जित ॥ 8 ॥

॥ इति नमस्काराष्टकम् ॥

भगवन्नामाष्टोत्तरशतस्तोत्रम्

[प्रस्तुत स्तोत्र सर्वतथागततत्त्वसंग्रह नामक ग्रन्थ के 26वें पटल से उद्धृत किया गया है। स्तोत्र का शीर्षक सम्पादक द्वारा प्रदत्त है।]

वज्रसत्त्व महासत्त्व महायान महात्मक ।
महाप्रभ महाशुद्ध महानाथ नमोऽस्तु ते ॥ 1 ॥

वज्रराज महावज्र वज्रसर्व तथागत ।
महासत्त्व महावीर्य महोपाय नमोऽस्तु ते ॥ 2 ॥

वज्रराग महाशुद्ध सर्वसौख्य महासुख ।
सुखायानादिनिधन महाकाम नमोऽस्तु ते ॥ 3 ॥

वज्रसाधु(धो) महातुष्टि(ष्टे) साधुकार प्रहर्षक ।
महाहर्ष महामोदन प्रामोद्य नमोऽस्तु ते ॥ 4 ॥

वज्ररत्न महाराज स्वभिषेक महामते ।
सर्वरत्न महाशोभ विभूषण नमोऽस्तु ते ॥ 5 ॥

वज्रतेज महातेज वज्रप्रभ महाद्युते ।
जिनप्रभ महाज्वाल बुद्धप्रभ नमोऽस्तु ते ॥ 6 ॥

वज्रकेतु(तो) महाकेतु(तो) महाध्वज धनप्रद ।
आकाशकेतो महायष्टि त्यागध्वज नमोऽस्तु ते ॥ 7 ॥

वज्रहास महाहास महाप्रीति प्रमोदन ।
प्रीतिवेग रतिप्रीते धर्मप्रीते नमोऽस्तु ते ॥ 8 ॥

वज्रधर्म महाधर्म सर्वधर्म सुशोधक ।
बुद्धधर्म सुधर्माय रागधर्म नमोऽस्तु ते ॥ 9 ॥

वज्रतीक्ष्ण महाकोश प्रज्ञाज्ञान महामते ।
पापच्छेद महाखड्ग बुद्धशस्त्र नमोऽस्तु ते ॥ 10 ॥

वज्रहेतु(तो) महाचक्र बुद्धचक्र महानिधि(धे) ।
 सर्वमण्डलधर्माग्र धर्मचक्र नमोऽस्तु ते ॥ 11 ॥
 वज्रभाष महाभाष निःप्रपञ्च महाक्षर ।
 अनक्षर महाजाप बुद्धवाच नमोऽस्तु ते ॥ 12 ॥
 वज्रकर्म सुकर्माग्र्य महाकर्म सुकर्मकृत् ।
 गुह्यपूज महापूज बुद्धपूज नमोऽस्तु ते ॥ 13 ॥
 वज्ररक्ष महावर्म कवचाग्र्य महादृढ ।
 महारक्ष महासार बुद्धवीर्य नमोऽस्तु ते ॥ 14 ॥
 वज्रयक्ष महाक्रोध सर्वदुष्टभयानक ।
 सर्वबुद्धमहोपाय अग्रयक्ष नमोऽस्तु ते ॥ 15 ॥
 महासन्धि(न्धे) महामुद्र महासमयबन्धक ।
 महामुष्टे समुद्राग्र्य वज्रमुष्टे नमोऽस्तु ते ॥ 16 ॥
 वन्द्यो मान्यश्च पूज्यश्च सत्कर्तव्यस्तथागतैः ।
 यस्मादनादिनिधनं बोधिचित्तं त्वमुच्यसे ॥ 17 ॥
 त्वामासाद्य जिनाः सर्वे बोधिसत्त्वाश्च शौरिणः ।
 संभूताः संभविष्यन्ति बुद्धबोध्यग्रहेतवः ॥ 18 ॥
 नमस्ते वज्रसत्त्वाय वज्ररत्नाय ते नमः ।
 नमस्ते वज्रधर्माय नमस्ते वज्रकर्मणे ॥ 19 ॥
 त्वामभिष्टुत्य नामाग्रैः प्रणम्य च सुभावतः ।
 यत्पुण्यं तेन सर्वो हि बुद्धबोधिमवाप्नुयात् ॥ 20 ॥
 इदमुच्चारयेत्सम्यग्नामाष्टशतमुत्तमम् ।
 सकृद्धारं सुभक्तिस्थः सर्वबुद्धत्वमाप्नुयाद् ॥ 21 ॥

॥ इति भगवन्नामाष्टोत्तरशतस्तोत्रम् ॥

पञ्चाक्षरस्तोत्रम्

[प्रस्तुत स्तोत्र बौद्धस्तोत्र संग्रह से उद्धृत कर दिया जा रहा है ।]

नमो बुद्धाय

न जातो न मृतश्चैव न रूपो नापि रूपवान् ।
न संसारे न निर्वाणे नकारस्तेन सूच्यते ॥ 1 ॥

मोहध्वंसकरो नित्यं मोक्षसौख्यप्रदायकः ।
मोहनं सर्वमाराणां मोकारस्तेन सूच्यते ॥ 2 ॥

बुद्धानामुदितं ध्यानं बुद्धानां जनमेलकम् ।
बुद्धनिष्कलेशसंबुद्धः बुकारस्तेन सूच्यते ॥ 3 ॥

धार्यते बोधिसत्त्वैः स धर्मधातुगतिः सदा ।
धर्माणां परमो धर्मः धकारस्तेन सूच्यते ॥ 4 ॥

यथा अस्ति तथा नास्ति यथा नास्ति तथास्ति यः ।
यथावादी तथाकारी यकारस्तेन सूच्यते ॥ 5 ॥

पञ्चाक्षरमिदं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम् ।
ये पठन्ति दिवारात्रौ ते यान्ति परमां गतिम् ॥ 6 ॥

॥ श्रीपञ्चाक्षरस्तोत्रं समाप्तम् ॥

बौद्धतन्त्र वाङ्मय का परिचय

(सम्पुटतन्त्र एवं पञ्चक्रम)

—बनारसी लाल—

['धीः' के पूर्व अंकों में इस स्तम्भ के अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण तन्त्रों के वाङ्मय का परिचय दिया गया था। इस अंक में सम्पुटतन्त्र एवं आचार्य नागार्जुन रचित पञ्चक्रम से सम्बद्ध वाङ्मय, उपलब्ध संस्कृत पाण्डुलिपियों, टीकाओं एवं इनसे सम्बद्ध आधुनिक प्रकाशन एवं शोध साहित्य पर प्रकाश डाला गया है।]

प्रज्ञातन्त्रों की श्रेणी में सम्पुटतन्त्र सम्मिलित है। प्रज्ञातन्त्रों का जो वर्गीकरण मिलता है, उसके अनुसार यह संवरतन्त्र का व्याख्यातन्त्र है। व्याख्यातन्त्र के आन्तरिक विभाजनों में भी सदृश (सभागीय या साधारण) श्रेणी में रखा गया है। यह एक बृहत् तन्त्र है। इसके कुल दस कल्प (परिच्छेद) हैं। पुनः प्रत्येक कल्प चार प्रकरणों में विभाजित है। इस प्रकार कुल चालीस प्रकरण हैं। संस्कृत मातृकाओं की पुष्पिका में इस तन्त्र का नाम "श्रीसम्पुटोद्भवसर्वतन्त्रनिदानकल्प" है। भोटानुवाद में इसे सम्पुट नाम महातन्त्र (तो० 381) कहा है। इसके साथ ही भोटानुवाद में "श्रीसम्पुटतिलकमहातन्त्रराज" (तो० 382) नाम से तथा चतुर्योगिनीसम्पुट (तो० 376) नामक दो अन्य तन्त्र भी मौजूद हैं। संस्कृत पाण्डुलिपियों के अन्वेषण से यह ज्ञात होता है कि इस तन्त्र की पाण्डुलिपियाँ गुह्यसमाज परार्ध या तथागतगुह्यक नाम से भी उपलब्ध होती हैं। तथागतगुह्यक नाम से गुह्यसमाज तन्त्र और इसका अठारहवां पटल समाजोत्तर नाम से भी प्रसिद्ध है। पाण्डुलिपियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गुह्यसमाज को पूर्वार्ध तथा सम्पुटतन्त्र को परार्ध लिखा गया है।

सम्पुटतन्त्र की मातृकाएँ

सौभाग्य से सम्पुटतन्त्र की अनेक पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं। परन्तु इसका अभी तक परिष्कृत सम्पादन प्रकाशित नहीं हुआ है। मात्र इसके एक-दो प्रकरणों पर कार्य हुआ है। देश-विदेश के पुस्तक संग्रहालयों में उपलब्ध इसकी 21 मातृकाओं की सूचना "दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थों की आधार सामग्री-2", पृ० 244 तथा 11 मातृकाओं की सूचना दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थों की आधार सामग्री-1", पृ० 22 में दी गई है। इनमें प्रायः सभी संग्रहों की सूचनाएं संकलित हैं। इनमें मुख्यतः राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू, केसर लायब्रेरी काठमाण्डू,

इंस्टीच्यूट फॉर एडवांस स्टडीज ऑफ वर्ल्ड रिलिजन्स न्युयार्क एवं टोक्यो यूनिवर्सिटी लायब्रेरी आदि की पाण्डुलिपियाँ हैं। संस्कृत मातृकाएं सम्पुटोद्भवमहातन्त्र या तन्त्रराज, सम्पुटतन्त्रतिलक, सर्वकल्परामनिदानतिलक, गुह्यसमाजपरार्ध, सम्पुटोद्भवसर्वतन्त्रनिदान महाकल्पराम इत्यादि नाम से मिलती हैं।

राष्ट्रीय अभिलेखालय एवं केसर पुस्तकालय में उपलब्ध मातृकाएँ—

लगत संख्या	पत्र संख्या	लगत संख्या	पत्र संख्या
2/239	73	4/2432	116
1/1513/12	105	3/648	125
3/280	143	3/300	53
4/71	75	सी०-13/9	117
सी०-228 mf.c.26/1	11	रील नं० E.1481/8	124
3/323	94	5/113	65
5/6849	15	5/7448	182
5/106	19		

इसके अतिरिक्त भी बृहत् सूची-पत्र में लगत सं० 2/374 और लगत सं० 4/71 में भी सम्पुटतन्त्र का उल्लेख है।

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में उपलब्ध मातृकाएँ¹—

संख्या	पत्र संख्या
Add.1365	259
Add.1617	55

इंस्टीच्यूट फॉर एडवांस स्टडीज ऑफ वर्ल्ड रिलिजन्स में माइक्रोफिश में उपलब्ध मातृकाएँ²—

एम० बी० बी०	पत्र संख्या
I-60	124

1. A Catalogue of Buddhist Sanskrit Manuscripts in the University Library, Cambridge, University Press-1983, by Cecil Bendall.
2. Buddhist Sanskrit Manuscripts, Micro-Fisch Collection Belonging to the Institute for Advance Studies of World Religions, New York.

I-85 125

I-17 70

I-124 25

ओरियन्टल इंस्टीच्यूट, बड़ौदा में उपलब्ध मातृका—

संख्या पत्र संख्या

13251/76 77

एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता में उपलब्ध मातृकाएँ¹—

संख्या पत्र संख्या

3828/62 83

4854/63 91

आशा आर्काइव्ज, काठमाण्डू में उपलब्ध मातृका—

संख्या पत्र संख्या

R.N. 275 161

रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एवं आयरलैण्ड में उपलब्ध मातृकाएँ²—

संख्या पत्र संख्या

37 127

44 121

टोक्यो यूनिवर्सिटी लायब्रेरी में उपलब्ध मातृकाएँ³—

संख्या पत्र संख्या

120 121

437 236

1. A Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Government Collection, under the care of the Asiatic Society of Bengal - H.P. Shastri, Vol-I, 1917.
2. The Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland (New Series), Vol. VIII, London.
3. A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Tokyo University Library, S. Matsunami, Tokyo, Japan, 1965.

438	129
439	160
427	113
428	89

उपर्युक्त के अतिरिक्त एच० ताकाओका¹ ने अपने सूचीपत्र में भी एक मातृका का उल्लेख किया है—संख्या DH.375, पत्र संख्या 77 (461-431), पृ० 113 ।

भोट तन्युर संग्रह में उपलब्ध सम्पुटतन्त्र की टीकाएँ

सम्पुटतन्त्र पर प्राचीन समय में अधिक व्याख्याएं लिखी गई हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता। भोट तन्युर संग्रह में इस पर केवल तीन टीकाओं का अनुवाद प्राप्त है। ये हैं अभयाकरगुप्त की श्रीसम्पुटतन्त्रराज टीका आम्नायमञ्जरी (तो० 1198)। वज्रावली सहित अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों के रचयिता अभयाकरगुप्त एक प्रसिद्ध तान्त्रिक आचार्य हुए हैं। आम्नायमञ्जरी नामक उनकी यह टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है। परवर्ती भोट आचार्यों ने इस टीका का बहुशः उल्लेख किया है। दूसरी टीका इन्द्रभूति की “श्रीसम्पुटतिलकनाम योगिनीतन्त्रराजटीका स्मृतिसन्दर्शनालोक” (तो० 1197) नामक है। इन्द्रभूति बौद्ध तन्त्रों के आद्य प्रस्तोताओं में हैं। एक अन्य टीका वीरवज्र (dpah-bo-rdo-rje) की “सर्वतन्त्रनिदानमहारहस्यश्रीसम्पुटोद्भवविस्तरव्याख्या रत्नावली” (rGyud thams cad kyi gleñ gśi dan gsañ chen dpal kun tu kha-sbyor las byuñ bahi rgya cher bshad pa rin-po-chehi phren ba), (तो० 1199) है।

संस्कृत में उपलब्ध टीका

पाण्डुलिपियों के संग्रहों में सम्पुटतन्त्र पर रचित किसी विस्तृत टीका की प्रति उपलब्ध नहीं हुई है। केवल एक छोटी अपूर्ण टीका की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है। जिसकी जानकारी दुर्लभ ग्रन्थ परिचय भाग-2, पृ० 150 पर दी गई है।

सम्पुटतन्त्र का विषयवस्तु

जैसा कि बतलाया जा चुका है कि इस तन्त्र की पाण्डुलिपियों की पुष्पिकाओं में इसे ‘सर्वतन्त्रनिदानरहस्य सम्पुटोद्भवमहातन्त्र’, ‘श्रीसम्पुटोद्भवसर्वतन्त्रनिदानकल्प’,

1. A Microfilm Catalogue of the Buddhist Manuscripts in Nepal, 1981, Buddhist Library, Japan, H. Takaoka, Vol. I.

सम्पुटतन्त्र, सर्वकल्पराजनिदानतिलक, सम्पुटतिलक, सम्पुटोद्भवसर्वतन्त्रनिदानकल्पराज, सम्पुटोद्भवमहातन्त्रराज इत्यादि अनेक नाम व्यवहृत हुए हैं। इसी तन्त्र में इसके कुछ शब्दों की व्याख्या करते हुए कहा है—“सर्वे च तन्त्राश्च सर्वतन्त्राः। सर्वतन्त्रशब्देन समाजादयः। तेषां निदानभूतम् निश्चितमित्यर्थः। हरिहरहरिण्यगर्भश्रावकप्रत्येकबुद्धानामगोचरत्वाद् रहस्यम्। सम्पुटं प्रज्ञोपायात्मकम्, तत्रोद्भवम्, समापत्तिरित्यर्थः। उद्भव उत्पत्तिः, एवंभूतं स्थिरचलस्वभावात्मकम्, लक्ष्यते इत्यनेन लक्षणम्। अथवा सर्वतन्त्रनिदानसम्पुटशब्देन वज्रसत्त्वोऽभिधीयते। रहस्यमित्यनेन औपदेशिको मन्त्रोद्धारो माण्डलेयदेवताद्यभिषेकलक्षणं प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रम्”। अर्थात् सभी तन्त्रों अर्थात् गुह्यसमाज आदि का जो निश्चितार्थ है जिसे हरिहरहरिण्यगर्भ तथा श्रावक, प्रत्येकबुद्ध नहीं जान सकते और जो प्रज्ञा और उपाय योग से उत्पन्न है, वही सम्पुटतन्त्र है। इस ग्रन्थ को प्रथमतः दस परिच्छेदों में विभाजित किया गया है और फिर प्रत्येक परिच्छेद को चार-चार प्रकरणों में। इस प्रकार यह तन्त्र चालीस प्रकरणों में पूर्ण होता है। संक्षेप में इन परिच्छेदों का विषय निम्नलिखित है—

प्रथम परिच्छेद के प्रकरणों में बोधिचित्तोत्पाद की भावना और इस तन्त्र का अभिधेय-अभिधान का विवेचन करते हुए बोधिचित्त की भावना फिर सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों की भावना तत्पश्चात् तत्त्व की चर्चा की गई है। द्वितीय परिच्छेदों में सर्वतन्त्रों के रहस्यभूत सम्पुटतन्त्र के अन्तर्गत अभिषेक प्राप्ति तथा प्रज्ञोपायार्थ भावना का विवेचन किया गया है। तृतीय परिच्छेद में श्रीहेरुक की उत्पत्ति, डाकिनी साधन और नैरात्म्य भावना की चर्चा की गई है। चतुर्थ परिच्छेद में वज्रडाकिनियों के सांकेतिक मुद्रा एवं भाषा की चर्चा है। उसमें विशेष रूप से अक्षर छोमा (संकेत), कठपूतनियों की चिह्नमुद्रा, योगि-योगिनियों की चिह्नमुद्रा आदि का निर्देश हुआ है। पांचवां परिच्छेद चर्याकल्प है, इसके अन्तर्गत डाकिनियों की चर्या एवं उनके मेलापक स्थानों का उल्लेख हुआ है। तत्पश्चात् उनके स्कन्ध आयतनों की परिशुद्धि का उल्लेख है। छठा परिच्छेद वसन्ततिलक से सम्बद्ध है। इस परिच्छेद में स्वाधिष्ठान, देशों (पीठों) का न्यास और अध्यात्म मण्डल में पूजा आदि कर्मों का निर्देश है। सातवें परिच्छेद के प्रकरणों में आयुर्वेद, होमविधि, कर्मप्रसर, चक्रोदय और ध्यानोदय आदि विषयों का निरूपण हुआ है। आठवें परिच्छेद में घण्टा तत्त्व, मन्त्रजाप एवं भावना, तीर्थिकों के ज्ञान का अपनयन और सर्वक्रिया समुदय का निर्देश है। नवें परिच्छेद में तथागतों की उत्पत्ति, बलि एवं उपहार, पटपुस्तकनिर्णय एवं चार क्रियाओं

के तत्त्वों का निर्देश मिलता है। दसवें परिच्छेद में आचार्य एवं मुद्रा अधिष्ठान, महामुद्रासिद्धि एवं बुद्धमाया विकुर्वण इत्यादि विषयों का निर्देश है।

सम्पुटतन्त्र पर आधुनिक शोध एवं प्रकाशन

इस ग्रन्थ के प्रकाश में नहीं आने से इस पर शोध अध्ययन भी बहुत अल्प मात्रा में हुआ। इसके कुछ अंशों को विद्वानों ने अपने अध्ययन का विषय बनाते हुए सम्पादित कर प्रकाशित किया है। अद्य यावत् प्राप्त सूचनाएं निम्नलिखित हैं—

Elder George Robert

Edition and Translation, Chapter I-IV, Ph.D. Dissertation, Columbia University, 1978.

Tadeusz Skorupski

The Samputatantra, Skt. and Tib. version of chapter-I, *The Buddhist Forum* IV, pp. 191-244, 1996.

Shinichi Tsuda

The Samputodbhavatantra, The Sanskrit text of first Prakaraṇa of 2nd Kalpa, Okuda Comm. Vol. pp.1031-1046, Kyoto, Heirakuzi Shoten, 1976.

Keiya Noguchi

Engaged in edition of the Sanskrit Text and Japanese translation, published works follows :

- I. Indogaku Bukkyogaku Kenkyo-32,2 (1984), pp. 726 (168)-727 (169).
- II. Buzan Gakuho-31 (1986), pp. 80 (39)-56 (63).
- III. Indogaku Bukkyogaku kenkyo-34,2, (1986), pp. 834 (125)-831 (128).
- IV. Mikkyo Zuza, 5 (1987), pp. 1-14.

- V. Indogaku Bukkyogaku Kenkyo, 36,1 (1987), pp. 348 (134)-346 (136).
- VI. Mikkyogaku Kenkyo, 19 (1987), pp. 65-86.
- VII. Taisho Daigaku Sōgō Bukkyo Kenkyūjo Nenpo, 9 (1987), p. 160.
- VIII. Buzan Gakuho, 33 (1988), pp. 64 (75)-47 (92).
- IX. Taisho Daigaku Sogo Bukkyo Kenkyūjo Nenpo, 11 (1989), p. 157.

दुलर्भ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान द्वारा सम्पूर्ण ग्रन्थ का भोटपाठ सहित सम्पादन एवं प्रकाशन का कार्य हो रहा है, जो शीघ्र प्रकाशित होगा।

पञ्चक्रम

प्रज्ञा, उपाय और अद्वयतन्त्र के रूप में अनुत्तरतन्त्रों का तीन रूप में विभाजन सर्वविदित है। गुह्यसमाजतन्त्र पितृतन्त्र अर्थात् उपायतन्त्र का प्रधान ग्रन्थ है। अनुत्तरतन्त्रों का मूल अभिधेय 'मायाकाय' एवं 'प्रभास्वर' के गम्भीर अर्थ को सुगम और सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादन करना है। मायाकाय पर विशेष बल देने के कारण यह उपायतन्त्र के रूप में जाना जाता है। इस परम्परा में गुह्यसमाजतन्त्र के अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले मुख्यतः तीन श्रेणी के तन्त्र माने जाते हैं। ये हैं—मूलतन्त्र, उत्तरतन्त्र और व्याख्यातन्त्र। गुह्यसमाज का मूलतन्त्र सत्रह पटलों में पूर्ण होता है। अट्टारहवें पटल को उत्तरतन्त्र माना जाता है। सन्धिव्याकरण, चतुर्देवीपरिपृच्छा, वज्रमाला, देवेन्द्रपरिपृच्छा और ज्ञानवज्रसमुच्चय आदि व्याख्यातन्त्र हैं। सदृशतन्त्रों में मायाजाल तथा वज्रगर्भालंकार आदि हैं। मूलतन्त्र भी दो रूपों में होने का निर्देश मिलता है विस्तृत एवं लघु। सम्प्रति बृहत् मूलतन्त्र किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं है, मात्र इसके उद्धरण प्राप्त होते हैं।

गुह्यसमाजतन्त्र की उत्पत्तिक्रम एवं निष्पन्नक्रम की साधना को प्रस्तुत करने वाला मुख्य ग्रन्थ आचार्य नागार्जुन का पञ्चक्रम है। गुह्यसमाजतन्त्र की दो परम्परा प्रसिद्ध है, आर्यपरम्परा और ज्ञानपाद की परम्परा। यहाँ आर्य परम्परा में नागार्जुन की कृति है। बौद्ध दर्शन की भाँति बौद्ध तन्त्रशास्त्रों का उद्देश्य भी तन्त्र की साधना द्वारा बुद्धत्व को प्राप्त करना है। असंमोहता, उपायबहुलता अदुष्करचर्या आदि इसकी विशेषताएँ हैं। अनुत्तरतन्त्रों की साधना के लिए दो मुख्य साधनाक्रम हैं—उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम। आचार्य

नागार्जुन ने गुह्यसमाज तन्त्र के क्रमद्वय को सुस्पष्ट और क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने के लिए पञ्चक्रम नामक ग्रन्थ की रचना की है। उत्पत्तिक्रम का प्रतिपादन करने के लिए पिण्डीक्रम तथा निष्पत्तिक्रम को प्रस्तुत करने के लिए पञ्चक्रम की रचना की। ये पाँच क्रम हैं—वज्रजापक्रम, सर्वशुद्धिविशुद्धिक्रम, स्वाधिष्ठानक्रम, अभिसम्बोधिक्रम और युगनद्धक्रम। इस प्रकार आचार्य नागार्जुन की यह कृति गुह्यसमाज की सम्पूर्ण साधना को प्रस्तुत करने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

उपर्युक्त पञ्चक्रमों के सन्दर्भ में कुछ वाद-विवाद प्राचीनकाल से प्रचलित था। पिण्डीक्रम को उत्पत्तिक्रम का मान कर यदि सम्मिलित करें तो ये छह क्रम हो जाते हैं। वस्तुतः पिण्डीक्रम को भी पञ्चक्रम का अंग स्वीकार करने वाले सर्वशुद्धिविशुद्धि क्रम अर्थात् अनुत्तरसन्धि को शाक्यमित्र की रचना मानकर पञ्चक्रम में सम्मिलित नहीं करते। इस प्रकार वे पिण्डीक्रम को पञ्चक्रम का प्रथम क्रम स्वीकारते हैं। जबकि कुछ आचार्य पिण्डीक्रम को पञ्चक्रम में सम्मिलित नहीं करते। वे वज्रजापक्रम को प्रथम क्रम मानकर इसकी व्याख्या करते हैं और शाक्यमित्र की अनुत्तरसन्धि को भी इसी का अंग मानते हैं।

पञ्चक्रम का रचयिता

आधुनिक विद्वानों ने अपने अध्ययनों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि बौद्ध-परम्परा में तीन नागार्जुन हुए। प्रथम माध्यमिक मत के संस्थापक नागार्जुन, जिनका समय 150-250 ई० के मध्य निश्चित किया गया है¹। दूसरे तान्त्रिक नागार्जुन, जिन्हें सिद्ध सरह का शिष्य माना जाता है तथा इनका समय लगभग 645 ई० के आसपास अनुमानित है²। तीसरे नागार्जुन सिद्ध रसायनज्ञ थे। भोट-परम्परा एवं परम्परागत मान्यतानुसार इस प्रकार का विभाजन स्वीकार नहीं किया जाता है। परम्परानुसार एक ही नागार्जुन हुए हैं और इनका समय लगभग 400 वर्षों का स्वीकार किया जाता है³। विनयतोष भट्टाचार्य का मानना है कि भोट-परम्परा में इन तीनों को एक व्यक्ति मानकर भ्रम पैदा कर दिया है। उनका मानना है कि तान्त्रिक नागार्जुन सरह के शिष्य थे, जो सातवीं शताब्दी में हुए थे। जिनके अनेक साधनग्रन्थ साधनमाला में संगृहीत हैं⁴। नागार्जुन के नाम से भोट तनयुर संग्रह में शताधिक ग्रन्थ मिलते हैं। इनमें अनेक तन्त्र से सम्बद्ध रचनाएँ हैं। ऐसा स्वीकार

1. Indian Buddhism, H. Nakamura, p. 235.

2. An Introduction to Buddhist Esoterism - B. Bhattacharya, p. 67.

3. भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास - लामा तारनाथ, पृ० 43

4. An Introduction to Buddhist Esoterism, p. 67-68.

नहीं किया जा सकता कि माध्यमिक दर्शन के प्रस्तोता नागार्जुन ने तन्त्र विषय पर कुछ भी न लिखा हो।

पञ्चक्रम एवं टीकाओं का प्रकाशन

आर्य नागार्जुन के पञ्चक्रम का सर्वप्रथम प्रकाशन फ्रेंच विद्वान् पूंसे ने 1896 ई० में किया¹। इसमें परहित रक्षित पाद रचित टिप्पणी भी प्रकाशित हुई। इसमें पिण्डीक्रम भी संलग्न है तथा पिण्डीक्रम पर परहितरक्षित की टिप्पणी भी। सन् 1994 में पुनः कात्सुमी मिमाकी और तोरु तोमाबेची ने 'द सेन्टर फॉर इस्ट एशियन कल्चर स्टडीज फॉर युनेस्को' से बिब्लियोथेका काडिकम एशियाटिकोरम-सं० 8 के अन्तर्गत रोमन अक्षरों में संस्कृत एवं भोटपाठ को प्रकाशित किया। सन् 2001 में प्रो० रामशंकर त्रिपाठी ने पुनः पिण्डीक्रम सहित पञ्चक्रम को कई पाण्डुलिपियों एवं भोटपाठ की सहायता से सम्पादित कर केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान से भोट-भारतीय ग्रन्थमाला-25 के रूप में प्रकाशित किया। पञ्चक्रम पर संस्कृत में उपलब्ध एक दूसरी टीका मुनिश्रीभद्र की योगिमनोहरा का प्रकाशन जोङ्जिन और तोरु तोमाबेची ने सन् 1996 में बर्न से किया है।

पञ्चक्रम की प्राप्त संस्कृत पाण्डुलिपियों का विशेष विवरण आवश्यक नहीं समझता हूँ, क्योंकि उपर्युक्त प्रकाशनों में इनका विवरण आ चुका है। फिर भी यह बतला देना उचित होगा कि पञ्चक्रम की पाण्डुलिपियाँ पञ्चक्रम के नाम से ही नहीं क्रमसाधन, युगनद्धक्रम इत्यादि नामों से भी पाण्डुलिपि संग्रहों में उपलब्ध हैं।

भोट भाषा में अनूदित पञ्चक्रम की टीकाएँ

पञ्चक्रम गुह्यसमाज की आर्य-परम्परा से सम्बद्ध है। इसलिए प्राचीन भारतीय आचार्यों विशेषकर आर्य परम्परानुयायी आचार्यों ने इस पर अनेक टीकाएँ रचित कीं। कितनी टीकाएँ रचित की निश्चित रूप से बतलाना कठिन है। फिर भी भोट तनग्युर संग्रह में उपलब्ध अनुवाद के आधार पर इसकी 13 टीकाओं की सूचना मिलती है। ये निम्नलिखित हैं—

1. पञ्चक्रमपञ्जिका प्रभासार्थनाम - वीर्यभद्र (Brtson ḥgrus bzañ po), (तो० 1830)।

1. Pañcakrama - de La vallee Poussin, Universite de Gand, Gand, 1896.

2. पञ्चक्रममतिटीका चन्द्रप्रभानाम - अभयाकरगुप्त (तो० 1831)।
3. पञ्चक्रमार्थभासकरण - नागबोधि (तो० 1833)।
4. पञ्चक्रमपञ्जिकानाम - भव्यकीर्ति (तो० 1838)।
5. पञ्चक्रमविवरण - लीलावज्र (तो० 1839)।
6. पञ्चक्रमव्याख्या मणिमालानाम - नागबोधि (तो० 1840)।
7. पञ्चक्रमपञ्जिका - समयवज्र (तो० 1841)।
8. पञ्चक्रमवृत्तार्थविरोचननाम - लक्ष्मी (तो० 1842)।
9. पञ्चक्रमार्थयोगिमनोहराटिप्पणी - मुनिश्रीभद्र (तो० 1813)।
10. पञ्चक्रमसंग्रहप्रकाश - नरोपा (तो० 2333)।
11. पिण्डीकृतसाधनपञ्जिका - विभूतिचन्द्र (तो० 1832)।
12. पिण्डीकृतसाधन - नागार्जुन (तो० 1796)।
13. पिण्डीकृतसाधनवृत्तिरत्नावली - रत्नाकरशान्ति (तो० 1826)।

उपर्युक्त टीकाओं में एक टीका मुनिश्रीभद्र की योगिमनोहरा ही संस्कृत में उपलब्ध है। परहित रक्षितपाद रचित टिप्पणी का उल्लेख तन्मयुर संग्रह में उपलब्ध नहीं हुआ। संभवतः इसका अनुवाद भोट भाषा में नहीं हुआ।

बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का अभिप्राय

—ठिनलेराम शाशनी—

[प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत बौद्धतन्त्र ग्रन्थों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का उन्हीं ग्रन्थों में दी हुई परिभाषाओं और उनके विविध अर्थों का संकलन किया जाता रहा है। इसी क्रम में इस अंक में दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग से प्रकाशित “श्रीहेरुकाभिधानं चक्रसंवरतन्त्रम् भवभट्टकृतया विवृत्या समेतम्” नामक ग्रन्थ से पारिभाषिक शब्दों का संकलन किया गया है।]

अक्रोधः

वर्तमानमपकारमार्गस्य चेतस आध्यातः क्रोधः, तदभावादक्रोधः। (पृ० 29)

अङ्गमुद्रायोगिन्यः

अङ्गस्य स्पर्शनादि यासां ता अङ्गमुद्रायोगिन्यः। (पृ० 119)

अजिनम्

वामस्कन्धावलम्बितस्य पटाञ्चलस्य वामकरेण धारणाभिनयादजिनम्। यज्ञोपवीत-परिधानाभिनयादिति केचित्। ...अजिनं पद्ममुद्रादायिने दर्शयेत्। (पृ० 112-113)

अट्टहासमहारवम्

अलीकनिर्माणेन कुतूहलादट्टाट्टहासरूपो महारवो गगनव्यापको मुखरवो यस्य स तथा। (पृ० 32)

अद्वययोगात्मा

अद्वययोगात्मा सौख्याम्बुप्राशनाद्वययोगात्मा सर्वपापविनिर्मुक्त इति योज्यम्।

(पृ० 495)

अनाहतम्

अनाहतमासमन्तादाप्तम्। (पृ० 48)

अपराजितः

अपराजितो दुर्गासहितः शङ्करः। (पृ० 596)

अपानम्

अपानमधोमार्गम्। (पृ० 119)

अभिधानम्

श्रीहेरुकस्य साङ्गोपाङ्गस्याभिधीयतेऽनेनेत्यभिधानं तन्त्रं शब्दशरीरम् । (पृ० 27)

अभिषेकः

अभिषेकः क्लेशमलापनयनम् । (पृ० 43)

अमृताप्यायननिर्वृतिः

पञ्चामृताप्यायननिष्पत्तिः । निवसनं पञ्चमुद्रादिकीलं पञ्जरम् आलिकाल्युच्चारण-
हेत्वादिशून्यताप्रवृत्तिर्नादो बिन्दुः संहारयोगोऽमृताप्यायननिर्वृतिः । (पृ० 589)

अव्रतम्

ब्राह्मणादिव्रतमव्रतम् । (पृ० 501)

आकाशगर्भः

आकाशगर्भो वज्रसूर्यः । (पृ० 516)

आचार्यः (गुरुः)

आचार्य इति—

सद्धर्माध्यापको यश्च व्याख्याता चोपदेशदः ।

अभिषेक्ता कर्मकर्ता चान्यः (चाचार्यः) सदुदाहृतः ॥

इत्युक्तलक्षणः । विशेषेण गुरुरेव । “गुरुराचार्यशब्देन पण्डितैः परिगद्यते” इति
यावत् । (पृ० 29)

आदिसिद्धः

आदौ सिद्धा यत्र प्रदेशे स तथा । (पृ० 27)

आदिसिद्धिः

आदिभूताः सिद्धयश्चादिसिद्धयः । (पृ० 596)

आम्नायः

आम्नाय आतोपदेशनापरम्परा । (पृ० 588)

आलयम्

आलयमिति । आत्मग्राहादिस्वभावो लीयते न दृश्यते यत्र विचाराद् वज्रसत्त्वादि-
देवता जायते तदालयम् । (पृ० 516)

उत्तरतन्त्रम्

उत्तरन्ति भवोदधिमनेनेत्युत्तरम्। पचाद्यच्। तन्त्रं सूत्रम्। (पृ० 596)

उपवासः

आहारं विना अहोरात्रस्थितिरुपवासः। (पृ० 79)

ऊष्मक्रिया

व्रजनार्थं शान्तिकपौष्टिकाभिचारादिकमूष्मा तस्य क्रिया निष्पादनम्।

(पृ० 506)

कण्ठिका

कण्ठिकादि नरकेशरचितं चूडेति। (पृ० 492)

कनकः

कनको धुतूरकः। (पृ० 574)

करन्यासम्

करमध्ये साष्टदलं पद्मं तस्य किञ्चुल्के श्रीहेरुकसमापन्ना वज्रवाराही। पूर्वदले डाकिनी। उत्तरे लामा। पश्चिमे खण्डरोहा। दक्षिणे रूपिणी। ऐशाने यामिनी। आग्नेये मोहनी। नैऋते सञ्चाल(रि)णी। वायव्ये त्रासनीति विभाव्यम्। ...करे देवतान्यासो यत्र विधिविधाने तत्करन्यासम्। (पृ० 517)

कर्पूरम् (मांसम्)

कं सुखं शरीरे पूरयतीति कर्पूरम्। वर्णागमविनाशाभ्यां सिद्धिं (द्धिः), तच्च मांसम्।

(पृ० 25)

काकण्डीफलानि

काकण्डीफलानि महाकालफलानि। (पृ० 574)

कामसिद्धिः

कामा रूपशब्दादयः, तेभ्यस्तैर्वा श्रीहेरुकसिद्धिः। भावयेद् भावं स्वसत्तां करोतीत्यर्थः। कामसिद्धिः सती भवतीति यावत्, “रूपशब्दादयः कामाः” (गु० त० 18.85) इति वचनात्। ...स्वाभिन्नश्रीहेरुकरूपेण चित्तेनेत्यर्थः। सर्वकामोपभोगेन श्रीहेरुकयोगी सिद्ध्यतीत्याशयः। तथा चाह—

सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाथ(शु)सिद्ध्यति। (गु० त० 7.3) इति। (पृ० 23)

कायचक्रम्

प्रीतिसंबोध्यङ्गस्वभावा चक्रवेगा । प्रश्रब्धिसंबोध्यङ्गस्वभावा खण्डरोहा । धर्म-
प्रविचयसंबोध्यङ्गस्वभावा शौण्डिनी । स्मृतिसंबोध्यङ्गस्वभावा चक्रवर्मिणी । उपेक्षासंबोध्यङ्ग-
स्वभावा सुवीरा । सम्यग्दृष्टिस्वभावा महाबला । सम्यक्संकल्पस्वभावा चक्रवर्तिनी । सम्यक्-
वाक्स्वभावा महावीर्येति कायचक्रम् । (पृ० 46)

कीलपञ्जरम्

कीलेति कीलनम् । पञ्जरं वज्रमयम् । अस्योपलक्षत्वाद् वज्रप्राकारादि । (पृ० 588)

कुलक्रिया

कुलक्रिया समयाचारः । (पृ० 103)

कुलविद्या

कुलविद्यां कुलदेवीम् । (पृ० 103)

कुलविद्याक्षराणि

कुलं साधकस्तस्य विद्यास्ता एवाक्षराणि वज्राणि दृढाधिमोक्षत्वाद् योगिनीजनाः ।
एते चाविचलितरूपा देव्यो भवन्तीति भावः । (पृ० 102)

कुलिका

कुलिका योगिनी । (पृ० 20)

ततश्च दूयन्ते सत्त्वदुःखेन तप्यन्त इति दूतय इति बहुवचनम् । कुलिका दूतय इति
पर्यायकथनम् । (पृ० 22-23)

कुसुमोदकम्

कुसुमोदकं रजोन्वितं बोधिचित्तम् । (पृ० 551)

कूर्ममुद्रा

दक्षिणं हस्तं प्रसार्योद्धृतां कृत्य च तदुपरि वामं चाकुञ्चितं स्थापयेदिति कूर्ममुद्रा ।

(पृ० 112)

गम्भीरधर्मनिर्देशः

गम्भीरशून्यतास्वभावः प्रज्ञाङ्गः । धर्मो भुजमुखाकाराद्या उपायाङ्गः । गम्भीरश्चासौ
धर्मश्चेति गम्भीरधर्मः । स निर्दिश्यते येनानुत्तरेण श्रीचक्रसंवराख्येन तन्त्रेण तद् गम्भीरधर्म-
निर्देशः । (पृ० 594)

गीतम्

गीतं वज्रपदान्वितम् । (पृ० 525)

गुरुपर्वाभिषिक्तम्

गुरुपर्वं गुरुपरम्परागतेनायाताः क्रमादुदकादिरूपा विशेषाः । तैः प्राप्ताभिषिक्तम् । अभिषिक्तमभिषेकः । युक्तान्युचितान्याचार्यादीन्यभिषिक्तानि यस्य तत्तथा । शैष्यकमित्यध्याहार्यम् । (पृ० 490)

गुह्यका

गूहन्ति संवृण्वन्ति रक्षन्तीति गुह्यका योगिन्यः । (पृ० 539)

गुह्यम्

गुह्यमिति धर्मोदयम् । (पृ० 119)

गुह्यसाधकः

गुह्यसाधक इति । चित्तादिस्वरूपं कायत्रयं गुह्यं साधयति योगिषु निष्पादयतीति स तथा । (पृ० 84)

गोपनीयम्

गोपनीयं विहेठकावद्यनिरासार्थम् । (पृ० 588)

घण्टानादः

घण्टा संवृतिः, तस्या नादः । यथा—

स्वभावशुद्धाः सर्वधर्मा स्वभावैर्विभवीकृताः ।

स्वभावशुद्धैः सत्सत्त्वैः क्रियते परमो भवः ॥

इति गाथापाठस्तदर्थबुद्धिश्च ।

इयं सा सर्वबुद्धानां प्रज्ञा घोषानुगा स्मृता ।

त्वयापि हि सदा धार्या बोधिरग्रा जिनैर्मता ॥

इति गाथापाठेन गुरुभट्टारकदत्तां घण्टां घण्टानादमालम्ब्य वादयेदिति भावः ।

...अर्थान्तरं च घण्टां नादयेद् गुरुरिति ज्ञेयम् । किं कृत्वेत्याह—दशसु दिक्षु सूक्ष्मघण्टाध्वनिकरणं घण्टानाद इत्युपदेशः । ...घण्टाद्वादशाब्दिका । ...घण्टानादो वज्रकुलम्, घण्टा रत्नकुलम्, ...घण्टानादं चाहो सुखमिति मन्त्रं साधकः शिष्यः कारयेदुच्चारयेदित्यर्थः ।

घण्टामुद्रा

घण्टावादनाभिनयेन घण्टामुद्रा। (पृ० 115)

घोरम्

श्रुतिस्मृत्यादिव्यवहारविमुखत्वाद् घोरम्। (पृ० 31)

घोरमिति श्मशानपरिवृतत्वात्। श्रीहेरुकशब्दार्थविवृत्या मण्डलनैरात्म्यदर्शनाद् बालानां भयजनकत्वाद् वा। (पृ० 32)

(श्री)चक्रसंवरतन्त्रम्

श्रीः पुण्यज्ञानसंभारः। चक्रं धर्मचक्रम्। श्रीमच्चक्रं श्रीचक्रं तेन कापथात् सत्त्वानां मनः संवृणोतीति श्रीचक्रसंवरः। श्रीहेरुकः तदभिधायित्वात्तन्त्रमपि तथोच्यते। (पृ० 596)

चतुर्मुखम्

चतुर्विमोक्षविशुद्ध्या चतुर्मुखम्। (पृ० 33)

चतुःपूजा

भावनारूपा मनोमयी। रूपादिविषयोपभोगलक्षणा बहिःपूजा। ...साक्षात्पूजामाह—
...बहिःप्रज्ञायां तन्त्रान्तरोक्तलक्षणायां पूजार्थं बोधिचित्तमुत्पादयेत्। तस्योभयसमापत्तिं तस्य बिन्दुभिरमृतास्वादरूपेण विशोध्य भुक्तेर्बुद्धान् रूपवेदनादीन् पञ्चस्कन्धान् बोधिसत्त्वांश्चक्षु-
रादिरूपान् पूजयेत्। एवं त्रिसन्ध्यमनुष्ठेयमिति साक्षात्पूजा। तदाह—

गुह्यशुक्रं विशालाक्षो भक्षयेद् दृढबुद्धिमान् ।

इदं तत्सर्वमन्त्राणां कायवाक्चित्तपूजनम् ॥ इति।

गुह्यपूजा तु सहजसंवेदनम्, चतुःपूजासंपत्त्या सिद्ध्यतीति भावः। (पृ० 23)

चतस्रः पूजाश्चतुष्पूजा इत्यस्यार्थः, बाह्यगुह्यमनोमयसाक्षाद्भावभेदेन ता उक्ताः।

(पृ० 26)

सर्वत्र च समयः सेव्यः, तद्भेदश्च न कार्य इतीयं साक्षात्पूजा। (पृ० 25)

चन्दनम्

चन्दनमाह्लादकरत्वाद् वैरोचनः। (पृ० 25)

चरुः

चरुरुत्सृष्टम्। (पृ० 81)

चरुमेकत्रभोजनं योगिनीभिर्भोजयेन्नित्यं सादरं निरन्तरं च । (पृ० 489)

एकत्रप्राशनं यत् स चरुरित्यर्थः । (पृ० 494)

चित्तचक्रम्

छन्दऋद्धिपादस्वभावा प्रचण्डा । वीर्यऋद्धिपादस्वभावा चण्डाक्षी । मीमांसाऋद्धि-
पादस्वभावा प्रभावती । चित्तऋद्धिपादस्वभावा महानासा । श्रद्धेन्द्रियस्वभावा वीरमती ।
वीर्येन्द्रियस्वभावा खर्वरी । स्मृतीन्द्रियस्वभावा लङ्केश्वरी । समाधीन्द्रियस्वभावा द्रुमच्छायेति
चित्तचक्रम् । (पृ० 46)

चित्तात्मा

चित्तमात्रमेवात्मा स्वरूपं यस्य स तथा । (पृ० 491)

चित्रिणां

चित्रिणां कुक्कुटादीनाम् । (पृ० 501)

चुम्बिका

चुम्बिकेति वज्रवाराह्या अपरं नाम । (पृ० 517)

जपमन्त्रः

जपेति तृतीयालोपे, स च मानसो व्यापारः, तेन मन्यते धर्मधातुं त्रायते लोकधातुमिति
प्रज्ञोपायात्मकः श्रीहेरुको मन्त्रः सिद्ध्यति । (पृ० 24)

जापः

जापेनेति वाचो व्यापारो दर्शितः । (पृ० 24)

ज्ञानचक्रम्

कायानुस्मृत्युपस्थानस्वभावा डाकिनी । वेदनानुस्मृत्युपस्थानस्वभावा लामा ।
धर्मानुस्मृत्युपस्थानस्वभावा खण्डरोहा । चित्तानुस्मृत्युपस्थानस्वभावा रूपिणीति ज्ञानचक्रम् ।

(पृ० 46)

डाकिनीजालचक्रम्

डाकिनीनां भावो डाकिन्यं तदेव जालवज्जालं क्लेशमकरादिबन्धनात् तस्य चक्रं
मण्डलम् । (पृ० 527)

डाकिनीजालसंवरम्

धातुं निरालम्बनं ज्ञानमात्मीकर्तुं शीलमस्या इति डाकिनी । नैरुक्तेन ककारेण
डाकिनीति स्यात् । यतो “डै वैहायसगमने” धातुरत्र विकल्पित इति विहायसः

पक्षिणस्तत्साम्योपायवन्तो विहायसः। ते चेह निरालम्बं मार्गं पक्षेण क्राम्यन्ति, निरालम्बनं च ज्ञानं योगिन उपायेन साक्षात्कुर्वन्ति। तेषां ज्ञानं वैहायसम्। तत्र गमनं स्थितिः। गमिरिह स्थित्यर्थः, स च विश्रामः। निरालम्बनं ज्ञानं साक्षात्कृत्यान्यत्र सञ्चारनिरोधः, तदानीमन्य-स्यैवाभावात्, तस्य ज्ञानस्य प्रज्ञास्वभावत्वात्। डाकिनी शून्यता, जालमुपायः। जालेन हि मत्स्यादिबन्धनसिद्धिः, उपायेन हि क्लेशमीनादिर्नियम्याकिञ्चित्करः क्रियते। ताभ्यां सं सुखम् अवद्येभ्यो बहिष्ठेभ्यो वृणोतीति डाकिनीजालसंवरः। संस्कारस्य सुखवाचकत्वात् सं सुखम् “सुखं समिति चाख्यातम्” इति वचनात्। योऽयं लौकिकः शंशब्दः स तालव्य एव। अथवा डाकिनीनां लामादीनां निर्माणं स्वस्मिन् दधाति इति धातुः। अनेन परार्थसम्पदुपायसम्पदद्वारेण विशेषणम्। (पृ० 6)

डाकिनी प्रज्ञा, सा च धर्मप्रविचयरूपा तथतारूपा च। जालं क्लेशाः, ततो मनसः संवरो रक्षणं डाकिन्या करणभूतया जालं संवरो यत्तद् डाकिनीजालसंवरम्। (पृ० 8)

डाकिनीजालसंवरमिति श्रीहेरुकः, लिङ्गस्यातन्त्रत्वात्। स एवायं युज्यते समाधीयते चित्तमनेनेति भावः। (पृ० 96)

डाकिन्यः

डाकिन्यः काकास्यादयः। काकास्यादिचतुष्टयं विहाय सर्वा एव गर्दभाकार-विशिष्टाः। (पृ० 94)

डाकिनी वज्रवाराही। (पृ० 96)

डाकिन्यः (चतुर्विंशति)

डाकिन्य इति डाकिनीजातयः। विशेषमाह—योगेत्यादि। योगमातराश्चतुर्विंशति। डाकिन्यः काकास्यादयश्च, लामयो लामाजातीयाः। लामापर्यायो लामशब्दः। आकारक्षये यकारागमे बहुवचनान्तपदमिदं वा। (पृ० 41-42)

याः समयाचारगोचरा डाकिन्य उक्ताः कायवाक्चित्तस्वरूपनिर्माणसंभोग-धर्मकायात्मिका यतः, ततः कारणाद् डाकिन्यश्चतुर्विंशतिर्भुवनानि त्रीणि कायादि चक्राणि विजृम्भयन्ति व्याप्नुवन्ति। ता एवाह—महावीर्येत्यादि। चक्रवेगा खण्डरोहा शौण्डिनी चक्रवर्मिणी सुवीरा महाबला चक्रवर्तिनी महावीर्येत्येताः सर्वाः शुक्ला इति कायचक्रम्। ऐरावती महाभैरवा वायुवेगा सुराभक्षी श्यामादेवी सुभद्रा हयकर्णा खगाननेत्येता रक्ता इति वाक्चक्रम्।

प्रचण्डा चण्डाक्षी प्रभावती महानासा वीरमती खर्वरी लङ्केश्वरी द्रुमच्छायेत्येताः
कृष्णा इति चित्तचक्रम् । (पृ० 44)

षड्योगिन्यः कुलतायां मरुदेशे षड्मातराः ।
सिन्धुदेशे लामा च नगरे कुलनायिकाः ॥
लम्पाकायां सौराष्ट्रे च कुलदेवता स्थिताः ।
प्रेतपुर्या महाकन्या डाकिनी सहस्रपिणी ॥
हिमाद्रौ चैव काञ्च्यां च कथिता सबालिका इति ।
पञ्चालविषये गृहदेवता कालिङ्गे च व्रतधारिण्यः ॥
पिशिताशना कोशले तु प्रेतपुर्या वज्रडाकिन्यः ।
स्थूलेश्वरे त्रिशकुनौ खण्डरोहाकुलोद्भवाः ॥
पुल्लीरमलये कनकाद्रौ च चण्डालकुलजाः स्त्रियः ।
सहस्राण्येकविंशतिः ॥
शेषान्येषु यावन्त्यः श्रीहेरुकस्य योगिनी ।
श्रीहेरुकमहायोगः तस्य मण्डलनायिकाः ॥
चतुर्विंशति डाकिन्या व्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
समयो ह्येष डाकिनीनां निर्मितो भावितः स च ॥

(पृ० 548-549)

डाकिन्यः (सप्त)

डाकिनीनां लक्षणमाह—यामिनी त्रासिनी कामिनी भीमा रूपा सञ्चारा भासुरा
डाकिन्यः सप्त संहता इति । एता यामिन्यादयः संहताः संक्षेपेण सप्त व्याहृता इति भावः ।

(पृ० 104)

तासां सान्वयं नामान्तरमप्याह—रूपिका चुम्बिका लामा परावृत्ता सबालिका
अनिर्वृत्तिका ऐहिकी देवी डाकिन्यः सप्तधा स्मृता इति । रूपाया रूपिकाऽपराभिधानाया
लक्षणमाह—...वीराद्वयसेविनीत्यर्थः । यामिन्याश्चुम्बिकापराभिधानाया लक्षणमाह—...
डाकिनी चेति । डाकिन्यघनाशिनीति भावः । अत एव यमः संयमः, स एव यामः स्वार्थेऽण् ।
स यस्याऽस्ति सा यामिनी । नाशनं करोति यतः । भीमाया लामापराभिधानाया

लक्षणमाह—...कामासक्तोऽपि भैरवो विशेषेण प्रयासात्। ...अतो विशेषेण रमत इति रामा। रेफे लत्वाल्लामा। लक्षणद्वययोगाद् भीमैव लामा। त्रासन्याः परावृतापराभिधानाया लक्षणाह—...शरभः पशुविशेषः। शरमेति पाठे तु श्वा। ...तस्या दर्शनेन ते बिभ्यतीत्यर्थः। अतः परावृत्ता सा। ...परे परावर्तन्ते यस्याः सा तथा यस्मात्। सञ्चारायाः सबालिकापराभिधानाया लक्षणमाह—...भूयोऽनिवर्तितत्वात् सञ्चारः। कामिन्या ऐहिक्यपराभिधानाया लक्षणमाह—...खण्डरोहा खण्डेऽभिन्नप्रदेशे पुनः पुनरारोहति तिष्ठतीति सा तथा। ...इह प्रदेशे चिरमवतिष्ठति इत्यैहिकी। भासुराया अनिवर्तिकापराभिधानाया लक्षणमाह—...या भासुराऽनिवर्तिकापरसंज्ञा सा मनसोद्विग्ना भवति। तथाभूतया च तया लोष्टादिना स्मृष्टः सत्त्वो न जीवति। अनिवर्त्या निवर्तयितुमशक्यत्वात्। ...वायुवेगादयो महावीर्यान्ता योगिन्यो यामिन्यादीनामैहिकान्तानां कुलानि। डाकिनी योगिनीति समानार्थः। (पृ० 105-106)

तत्त्वधृक्

तत्त्वं वज्रवाराह्याभिन्नं स्वभावं धारयतीति तत्त्वधृक्। तुकस्तकारेण ककारे चणः। श्रीहेरुकसंयोग इति स उद्दिष्टः। (पृ० 26)

तन्त्रम्

तन्त्र्यतेऽनेनार्थ इति शब्दसंदोहः। अर्थ इह त्रिधा भिन्नः फलहेतूपायरूपेण। फलं वैपुल्यरूपं समन्तभद्रत्वम्। हेतौरेवाभ्यासावस्थाविशेषापन्नत्वम्। हेतुस्तु माण्डलेयदेवता-समूहः। उपायश्चतुर्भूतसुमेरुकूटागारादिः। इत्थमस्य तन्त्रता। तथा चाह—

प्रबन्धं तन्त्रमाख्यातं स प्रबन्धस्त्रिधा भवेत् ।

आधाराकृत्युपायैश्च त्रिभिस्तन्त्रार्थसंग्रहः ॥ इति। (पृ० 19-20)

तन्त्र इति। तन्त्र्यन्ते संस्क्रियन्ते येन तत्तथा, श्रीचक्रसंवराख्यम्। (पृ० 588)

तृतीयं नेत्रम्

[वीरादिसर्वदेवानां तृतीयं नेत्रमनेन सूचितम्। यस्माद् भ्रुवोर्मध्ये नासानुरूपे ललाटे। पापनाशकत्वात् अवधूती चित्तमात्रम्। तत्पदं तस्य चिह्नं तृतीयं नेत्रम्।] (पृ० 527)

त्रिनेत्रम्

त्रिविमोक्षविशुद्ध्या प्रत्येकमुखं त्रिनेत्रम्। (पृ० 33)

त्रिमधुरम्

त्रिमधुरं गुडमधुशर्कराः। (पृ० 559)

त्रैलोक्यविजयम्

त्रैलोक्यं हरिहरहरिण्यगर्भान्निःशेषेण जयतीति त्रैलोक्यविजयम्। (पृ० 512)

दक्षः

दक्षः कुशलोत्साही। (पृ० 29)

दक्षिणा

दक्षिणा गौरवातिशयेन दानम्। (पृ० 43)

दर्शनमहागुह्यम्

दर्शनमहागुह्यमिति। दर्शनार्थं महागुह्या योगिन्यो यतो भवन्ति तत्तथा। (पृ० 119)

दूतयोऽसिधाराव्रतम्

दूतयोऽसिधाराव्रतं च द्वयमिदं पवित्रम्। अतः पुण्यवर्द्धनम्। यस्य मते तदसिधाराव्रतं पवित्रं तदाशयाभ्युपगमादुक्तं तत् पवित्रमिति। द्वयोर्मध्ये नवनिशितं खड्गं स्थापयित्वा कमनीयकामिनी शय्याशयनमसिधाराव्रतम्। अथवा दूतयोऽसिधाराश्च द्वयं समं दुरभ्यस(स्त) त्वात्। किं च दूतीनां दर्शनमतिपवित्रं पुण्यवर्द्धनमसिधारं चार्थसाधकं भवति। (पृ० 488)

दूती

दूतीं समयिनीम्। (पृ० 499)

दूतीरक्षा

दूत्या बाह्याङ्गनया रक्षाकवचनम्। तया सर्वग्रहणप्रशमः। अथवा वशीकरणेन दूत्या अनन्यगामिता कार्येति दूतीरक्षा। ...“परोच्छिष्टं न भुञ्जीत” इति वचनादिति केचित्। तथागतकुलोत्पन्नानां दूतीनां प्रकाशसेवा रक्षेत्यपरे। (पृ० 500)

देवता

आदिसिद्धा प्रकृतिसिद्धा महामुद्रा देवता। (पृ० 526)

धनदः

इतश्च धनं श्रद्धादि। तथा चाह—“श्रद्धाधनं प्रज्ञाधनं श्रुतधनं वीर्यधनं प्रीतिधनं समाधिधनं स्मृतिधनं चेति।” तद् तदाति कामिनामर्थसम्पादनान्नियतमिति धनदः श्रीहेरुकः।

(पृ० 503)

धर्मकायः

धर्मकायसाधनमाह—धर्मेत्यादि। धर्मश्चासौ कायश्चेति धर्मकायः शरीरं येषां ते तथा, जिनाः। तेषां साधको निष्पादको यदा भवति सिद्ध्यति तदा ज्ञानं प्रवदाम्यहम्। ज्ञानं

धर्मकायमेकानेकविरहितं तथागतगोचरं प्रकृतिनित्यं प्रकृतिप्रभास्वरं प्रविभज्य निश्चिनोमि । स
च धर्मकायो जिनस्वरूप इति समुदायः । तथा चाह—

यो नैको नाप्यनेकः स्वपरहितमहासम्पदाधारभूतो
नैवाभावो न भावः खमिव समरसो दुर्विभावस्वभावः ।
निर्लेपं निर्विकारं शिवमसमसमं व्यापिनं निष्प्रपञ्चं
वन्दे प्रत्यात्मवेद्यं तमहमनुपमं धर्मकायं जिनानाम् ॥ इति ।

(पृ० 82)

ज्ञानसंभोगनिर्माणमित्यादिज्ञानं धर्मकायः, समुच्चये एकवचनम् । (पृ० 83)

धर्मता (शून्यता)

धर्मतातथाशून्यतानां न जानामि धर्मतारूपत्वेन स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । तथा
चाह—“न हि चित्तं चित्तं जानाति” इति । ग्राह्यादिविविक्तज्ञानं चित्तमात्रं शून्यता । तदुक्तम्—

विज्ञानाच्छून्यतानाम् काचिदन्या न विद्यते ।
व्यतिरिक्ता व्यतिरेकित्वं विवेकस्य यतो मतम् ॥ इति ।

जानन्ति ते महात्मानः संबुद्धा तत्सुता अपि ।
उत्पादादपि बुद्धानामनुत्पादेऽपि वा स्थितः ॥

धर्मता सर्वदाचिन्त्या हानिवृद्धिविवर्जिता ।
इत्येवं तुलयित्वा तु न निन्द्याः सर्वलौकिकाः ॥ (पृ० 594)

धर्मोदयः

सर्वेषां धर्माणाम् उदयः । उदेत्यस्मादिति कृत्वा । ...अथवा धर्मोदयो भग
इत्यनर्थान्तरम् । (पृ० 48)

ध्यानम्

ध्यानं देवताकृतिचिन्तनम् । (पृ० 18)

ध्यानेनेति चेतसो व्यापारः, प्रज्ञोपायात्मकत्वेन कायस्य व्यापारः । (पृ० 24)

नदीमुद्रा

हस्तेनाकाशे नद्याकारेण रेखादानाभिनया नदीमुद्रा । (पृ० 120)

नागमुद्रा

वामं हस्तमुद्धृतीकृत्य तदुपरि दक्षिणं कफोणिं निधायाङ्गुष्ठतर्जनीसमुत्थापनादङ्गुलि-
त्रयमाकुञ्च्य दक्षिणहस्तं धारयेदिति नागमुद्रा। (पृ० 115)

निर्माणकायः

निर्माणमाह—निर्माणेत्यादि। सर्वसत्त्वसाधारणः प्रबन्धनित्यो निर्माणकायः। तथा
चाह—

सत्त्वानां पाकहेतोः क्वचिदनलमिवाभाति यो दीप्यमानः
संबोधौ धर्मचक्रे क्वचिदपि च पुनर्दृश्यते यः प्रशान्तः ।
नैकाकारप्रवृत्तं त्रिभवभयहरं विश्वरूपैरुपायै-
र्वन्दे निर्माणकायं दशदिगनुगतं तं महार्थं मुनीनाम् ॥ इति।
(पृ० 83)

निर्वाणम्

निर्वाणं विरमानन्दो बहिर्बुद्धिविषयानुपलम्भात्।

निष्ठीवनम्

निष्ठीवनं गलनिर्गतः श्लेष्मा। (पृ० 583)

नेत्रमुद्रा

द्वाभ्यां ज्येष्ठातर्जनीभ्यां हस्तद्वयगताभ्यां सूच्यं सूचीकृत्वा शेषाङ्गुलिसङ्कोचे किञ्चित्
कुञ्चिता तर्जनी यस्यां सा तथा मुद्रा, तां नेत्रमुद्रां विजानीयात्। (पृ० 121)

...इयं नेत्रमुद्रा पोतङ्गिनीसंज्ञका। (पृ० 122)

पञ्चकामगुणोपभोगम्

रूपे वैरोचनः, शब्दे अक्षोभ्यो, गन्धे रत्नसंभवो, रसेऽमिताभः, स्पर्शेऽमोघसिद्धिरिति
सर्वबुद्धात्मकत्वम्। पञ्चकामगुणोपभोगेन मन्त्रो जपितव्य इति भावः। (पृ० 93)

पञ्चमुद्राः

कण्ठिकाचूडकेयूरकुण्डलब्रह्मसूत्राणीति पञ्चमुद्रा आदिभूता यस्य तत्कण्ठालङ्कृत-
शिरोमालामेखलादि। (पृ० 588)

पञ्चामृतानि

पञ्चामृतमास्वाद्य योगी सिद्धिमाप्नोति शाश्वतीम्। ...यथाह—

विण्मूत्रशुक्ररक्तानां जुगुप्सां नैव कारयेत् ।
भक्षयेद् विधिना नित्यमिदं कार्यं त्रिगुह्यजम् ॥ इति ।

(गु० त० 17.47)

एतन्मध्वादि किमुच्यत इत्याह—पञ्चेत्यादि । पञ्चानाममृतानां समाहारं पञ्चामृतम् ।
देवतायोगेन विचिकित्सारहितत्वेनामृतास्वादविधिना चास्वाद्य सर्वमन्नपानादिकममृतं भवेदिति
समुदायार्थः । (पृ० 26)

पञ्चव्रीहयः पञ्चौषधयश्च । भक्षयशब्देन पञ्चामृतानि । ...पञ्चरत्नानि पञ्चौषध्यः कलश-
गर्भे पञ्चामृतानि तु कपालस्थानि तन्मुखे निदध्यात् । (पृ० 35)

पटहिका

पटहिकामिति मङ्गलकारिणीम् । ...पटहिका षोडशाब्दिका । ...पटहिका
पद्मकुलम् । (पृ० 38)

पद्मनर्तकः

पद्मनर्तकः पद्मनर्तेश्वरः । (पृ० 516)

पद्मनर्तेश्वरकुलम्

पद्मनर्तेश्वरोऽमिताभः तत्कुलोद्भवा इति ज्ञेयम् । (पृ० 108)

पद्ममुद्रा

अञ्जलिगताङ्गुलिकुञ्चनात्पद्ममुद्रा । (पृ० 112)

परमम्

परमं निर्वाणम् । यथाकथञ्चित् कार्यत्वेन मात्यस्मिन्निति परमम् । अथवा परे शत्रवः,
ते तु क्लेशाः । ततश्च परे मीयन्ते परिमीयन्ते लघूक्रियन्ते येन तत्परमम् । (पृ० 6)

परार्थे रमत इति परमम् । क्रियाविशेषणमिदम् । परं यथा स्यात्तथा वज्रसत्त्व इत्यर्थः ।

“परमार्थविकल्पोऽपि नालमर्थप्रसिद्धये” । (पृ० 7)

परममिति दर्शनमात्रादेव सर्वपापहारित्वात् । (पृ० 24)

परिणामः

अवस्थाविशेषः परिणामः । (पृ० 48)

पशुकर्म

पशुभिः कर्म पशुकर्म सप्तजन्मोपलम्भलक्षणम् । (पृ० 580)

पारमिता: (षड्)

दानशीलक्षान्तिवीर्यध्यानपारमिताडाकिन्यादयो वज्रवाराह्यन्ताः क्रमेण ज्ञेयाः। तथा-
शब्दः प्रज्ञापारमिता पञ्चभिः पारमिताभिः सङ्गच्छत इति सूत्र(च)यति। (पृ० 517)

पीठानि (चतुर्विंशति)

कुलतायां विविक्ते च सिन्धौ च नगरे तथा ।
सुवर्णद्वीपे सौराष्ट्रे तथा च गृहदेवता ॥
प्रेतपुर्यां हिमस्थाने काञ्च्यां लम्पाकदेशके ।
कलिङ्गे कोशले चैव त्रिशकुनिरोड्ढके तथा ॥
कामरूपे मालवे च देवीकोट्टे रामेश्वरे ।
गोदावर्यामर्बुदे चोड्डियाने जालन्धरे तथा ॥
पुल्लीरमलयादीनां कन्या वीराद्वयव्यापिनी ।
ताः सर्वाः कामरूपिण्यो मनोवेगनिवृत्तये ॥

...पुं जाँ औँ अँ गों राँ दें माँ काँ औँ त्रिँ कोँ केँ लँ काँ हिँ प्रँ गुँ साँ सुँ नँ सिँ मँ कुँ।
इति। चतुर्विंशतिरक्षराणि मन्त्रभूतानि गोपितानि। एतेभ्यः सार्द्धचन्द्रबिन्दुनादेभ्यो
यथाक्रममुत्पन्नेषु शरीरस्थेषु पुल्लीरमलयादिषु प्रचण्डादय उँ कर कर प्रचण्डे हूँ हूँ फड्
फडित्यादि मन्त्रजा भाव्याः। (पृ० 546-547)

पुण्यम्

पुनातीति पुण्यम्। (पृ० 24)

पुत्रकाः

पुनन्ति त्रायन्त इति पुत्राः। अतः प्रशंसायां कविकृतेः पुत्रकाः शिष्याः। जप्तविद्य-
त्वादिना कुलीनत्वादिना च तथाभूताः। (पृ० 39)

पुष्पलोहः

पुष्पलोहः लोहकीटः। (पृ० 574)

पूजा

बाह्यगुह्यमनोमयतत्स्वरूपाभिः पूजाभिरित्यर्थः। (पृ० 578)

पोतङ्गी

अभिवादनस्य संज्ञा पोतङ्गीशब्दः। (पृ० 127)

प्रतिपोतङ्गी

प्रतिपोतङ्गी प्रत्यभिवादनमिति । प्रत्यभिवादनं पुनर्वन्दनाविशेषः । (पृ० 127)

प्रतिमुद्रा

योगिन्या मुद्रादर्शनाद् योगिनो मुद्रा प्रतिमुद्रा । (पृ० 113)

बुद्धः

सहजानन्दज्ञानं बुद्धवत्यात्मनि बुद्धा बुद्ध इति सिद्धम् । (पृ० 498)

बोधिचित्तम्

उत्तमबोधिचित्तं रजोऽन्वितं यत् । ...द्रव्यं बोधिचित्तं तस्य निरवद्यग्रहणं निश्चयः ।

(पृ० 500)

भक्ष्यम्

भक्ष्यं पिष्टकादि । (पृ० 36)

भगवान्

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः ।

ज्ञानस्याथ प्रयत्नस्य षण्णां भग इति स्मृतिः ॥ इति ।

भगयोगाद् भगवानहम् । ...तथा चाह—

चतुर्णां क्लेशादिमाराणां भञ्जनात् भगवान् इति । क्लेशस्कन्धमृत्युदेवपुत्राणां भङ्गः ।
भूयश्च—भञ्जनं भगमित्याह क्लेशमारादिभञ्जनात् । ...तथा चाह—प्रज्ञाबाध्याश्च ये क्लेशास्त-
स्मात् भगा प्रज्ञोच्यते ॥ इति । (पृ० 7-8)

सहजज्ञानस्वरूपो भगवान् । (पृ० 18)

भीषणः

महारौरवादिनरकपालादिभ्योऽपि भयजनकत्वाद् भीषणः । (पृ० 32)

भूमिपारमिताः (दश)

प्रमुदितादयो दशभूमयो दानशीलक्षान्तिवीर्यध्यानप्रज्ञाप्रणिधिबलोपायज्ञानानि दश-
पारमिताः । (पृ० 587)

भूमिपीठादीनि

अथापरं प्रवक्ष्यामि भूमिपीठादियोगिनी ।

श्रीहेरुकस्याङ्गाङ्गं स्थिरचलात्मकम् ॥

पीठं [प्र]मुदिताभूमौ पपीठं विमला तथा ।
 क्षेत्रं प्रभाकरी ज्ञेया अर्चिष्मत्युपक्षेत्रकम् ॥
 छन्दोहमभिमुखं (खी) चैव उपछन्दोहं सुदुर्जया ।
 दूरङ्गमेति मेलायां अचलस्योपमेलकम् ॥
 श्मशानं साधुमतिश्चैव धर्ममेघोपश्मशानकम् ।
 श्रीहेरुकमभिश्चार्य एषा अध्यात्मभूमयः ॥ (पृ० 586)

भोज्यम्

भोज्यमन्त्रादि । (पृ० 36)

मण्डलम्

मण्डलं (मण्डं) बोधिं लाति येन तत्तथा । (पृ० 25)

चित्तमात्रं मण्डलमिति ज्ञेयम् । (पृ० 34)

मधुः (शुक्रम्)

मधु साधर्म्यात् मधु शुक्रम् संयोगे त्रिदोषघ्नत्वेन संकेतितत्वात् । (पृ० 25)

मन्त्रजापः

मन्त्रा अष्टपदादयः, तेषां जप एव जापः, आवर्तनम् । (पृ० 18)

मन्त्रम्

मन्त्रेण तत्त्वचोदनभाषणेन । (पृ० 25)

मन्त्रं प्रज्ञोपाययोगम् । (पृ० 81)

मन्त्रस्तत्त्वचोदनं भाषणम् । (पृ० 505)

मन्त्रः सर्वधर्मस्वरूपसाक्षात्करणम् । (पृ० 543)

मन्त्रं मन्त्रमिति प्रोक्तं तत्त्वचोदनं भाषणम् इति । (पृ० 559)

मन्थमन्थानसंयोगम्

मन्थः प्रज्ञाभागो मन्थान उपायभागः, धर्मसंकेतात् । तौ समरसत्वेन युज्येते यत्र तत्तथा । (पृ० 18)

महाकर्म (द्वादश कर्मप्रसराः)

अथ कर्मवरं श्रेष्ठं येन जानन्ति साधकाः ।
 वश्याकर्षणविद्वेषमारणोच्चाटनादिकम् ॥
 जुम्भणं स्तम्भनं चैव मोहनं कीलनं च वै ।
 वाचोपहरणं मूकबधिरमन्धता तथा ॥
 षण्ढत्वकरणं चापि रूप[स्य] परिवर्तनम् ।
 द्वादशैतन्महाकर्म साधकः साधयेत् सदा ॥

...वश्याकर्षणयोरेकत्वं मारणोच्चाटनयोश्चैवेति द्वादशैते कर्मप्रसराः। (पृ० 546)

महाकुली

महाकुली महाव्रती चर्यायोगीत्यर्थः। (पृ० 550)

महातन्त्रराजम्

महच्च तन्त्रयति पुष्पाति बुद्धधर्माननेति तत्तन्त्रं चेति परमनास्त्रवं महासुखं तद्राजते
 यत्र तन्महातन्त्रराजम्। (पृ० 596)

महाप्रेतसाधनम्

महाप्रेतसाधनमाह—...सुम्भमन्त्रेण मूलमन्त्रेण च पूर्वसेवां कुर्वत्(न्) लब्धनिमित्तो-
 ऽक्षतमपूतिकं लब्धनिमित्तोऽक्षतपूतिकं शवमादाय श्मशानेऽर्द्धरात्रे कृष्णशुनीदुग्धम्रक्षितैः
 साखण्डतण्डुलैः कृष्णैर्मर्षैः तस्य वक्त्रे तेनैव मन्त्रेण होमं कुर्यात्। (पृ० 521)

महायोगम्

महायोगं श्रीहेरुकयोगम्। (पृ० 506)

महाशकुनिः

महाशकुनिः पेचकः। (पृ० 574)

मानवः

मानादिक्लेशान् वाति प्राप्नोतीति मानवः। मानवत्वात् तदज्ञ इत्यर्थः। (पृ० 526)

मारणम्

निषूदनज्ञानं मारणम्। (पृ० 42)

मारम्

मारमिति स्कन्धादयो माराः सन्त्यस्येति मारं चित्तम् । “चित्तमेव महामारम्” इति वचनात् । (पृ० 584)

मुक्तिः

मुक्तिः क्लेशादिबन्धनापगमः । (पृ० 505)

मुक्तिः क्लेशबन्धनापगमः । (पृ० 595)

मुखगरुडः

मुखं द्वारमुपाय इति पर्यायः । मुखाभ्यां गमनोपायाभ्यां पक्षाभ्यामिव गरुडो मुख-
गरुडः । अथवा मुखेति तृतीयालोपे । गरुडो गरुडवद् बाहुद्वयस्य पक्षवच्चालनात् । ... एतेन
बोधिचित्तं मुखेनादाय गरुडवत् पक्षद्वयमुच्चालयन् प्रज्ञामुखे दत्त्वा शेषं स्वयमभ्यवहरेत् ।
... उपदेशस्त्वयं “कूटयोर्हानियोगेन मुमुकुटमिति स्मृतम्” इति मुमुकुटं खो मूलं मुखम-
द्वयज्ञानविशुद्धः । ग उत्तरं हेत्वादिशून्यताविशुद्धः । रु पश्चिमं प्रणिधाननिर्मुक्तिविशुद्धः । डो
दक्षिणं न क्वचित् स्थितिविशुद्धः । समुदायेन मुखगरुडाः सन्त्यस्येति मुखगरुडः श्रीहेरुकः ।
सोमसङ्गमं यः समाचरति स मुखगरुड इति योज्यम् । (पृ० 78)

मुखमुद्रा

वज्राञ्जलिं कृत्वा मध्यमाद्वयमुत्थाप्य तर्जनीभ्यामनामिकाद्वयमावेष्ट्याङ्गुष्ठद्वयं प्रगुणी-
कृत्य तं मुखसमीपे धारयेदिति मुखमुद्रा । (पृ० 115)

मुद्रा

मुद्रा वज्रवाराही । ... अथवा मुद्रा चिह्नमुद्रा । (पृ० 31)

मुद्रा देवतायोगः । (पृ० 549)

मुद्रया प्रज्ञया । (पृ० 551)

मुद्रा (पञ्च)

पञ्चमुद्राप्रतिबद्धं साधकः सिद्धयभिमुक्तकः ।

कण्ठकावलयकुण्डलचूडामणिभूषितम् ॥

यज्ञोपवीतं भस्म च सर्वकालव्यवस्थितम् ।

रात्रौ तु प्रकटं नित्यं दिवासु (गु) षं च कारयेत् ॥ इति ।

...वज्ररत्नपद्मकर्मतथागतकुलैः प्रतिबद्धं कार्यमित्याशयः। (पृ० 493-494)

मुनिसत्तमः

मननान्मुनिः। पारमितानयिकमन्त्रनयिकयोः सतोर्मध्ये अयं श्रेष्ठो मन्त्रनयिकः प्रस्तारज्ञो मन्त्रनयिको मुनिसत्तमः। (पृ० 48)

मूलमन्त्रः

मूलं सर्वसिद्धीनां तच्चासौ मन्त्रश्चेति स तथा। विद्याराजादन्यो मूलमन्त्र इति भावः। स चाष्टविमोक्षविशुद्ध्याष्टपदः। (पृ० 59)

यथा तथा

सहजज्ञानस्वरूपो भगवान्। तदेव कीदृगित्याह—यथा तथेति। एतच्चतुरक्षरं वाक्यं सर्वथा—

आइ ण अन्त ण मज्झ न्हि णो भव णो निब्बाण ।

एहु सो परम महासुह णो पर णो अप्पाण ॥ (दो० को०, पृ० 21)

स्वसव्येतरपाणेस्तु वृद्धा चानामिका तथा ।

ताभ्यां निपीडयेद् योगी संभोगे लहरीद्वयम् ।

पश्चादुत्पद्यते ज्ञानं कुमारीसुरतं यथा ॥

इति यथाशब्दार्थः। “चतुर्थं तत्पुनस्तथा” (गु० त० 18.112) इति तथाशब्दार्थः। ग्रन्थभाग-द्वयार्थो गुरुपदेशतो बोद्धव्यः। नेह छन्दःशब्दादि विवेचनीयमार्षत्वात्। रहस्यशब्दाभिधेयं सविशेषणम्। (पृ० 18)

योगपारगः

योगः शान्तिकादिस्तस्य पारः पर्यन्तस्तद्गतवानिति योगपारगः। (पृ० 29)

योगमार्गः

चित्तमात्रसमापत्तिर्योगः। स एव संबोधिमार्गः। (पृ० 495)

योगवित्

योगविदिति। अमृतास्वादयोगवित्, चित्तमात्रसमापत्तिमानिति वा। (पृ० 25)

योगसंवरम्

योगः प्रज्ञोपायौ वैषम्यात्मनः संवृणोत्यनेनेति सम्बन्धः। सं सुखं योगस्य संवरो योग-संवरस्तं यजेतादत्ते। परमानन्दानन्तरं विषयेभ्य इन्द्रियग्रामो निवर्तते मनोमात्रं सुखमात्र-

मालम्बते यदा तदा विरमानन्दः। ततश्च विषयेभ्य इन्द्रियविरामो विरमः। तस्यैव पर्यन्तभूतो निर्विकल्पज्ञानस्वरूपो निरतिशयसुखपरिपूर्णस्तज्जश्च सहजानन्दस्तमादत्त इति समुदायार्थः। स च मण्यन्तर्गतबोधिचित्तस्थिरीकरणेन प्रतीयमानोऽप्युपदेशं महान्तमपेक्षते स्वप्रतीतये। तदर्थं सद्गुरुभट्टारकचरणकमलमेव प्रसन्नीकार्यम्। अतः सङ्कल्पात्मनः संवृणोतीति संवरः सहजानन्दः। प्रज्ञोपाययोगेन तयोरेव तादृशं ज्ञानमुदेति। याभ्यां ज्ञानममूल्यं जायते तौ प्रज्ञोपायावेव रत्नभूताविति ज्ञेयम्। (पृ० 123-124)

योगः

योगः शान्तिकपौष्टिकवश्याभिचारादिकर्म समाधिः। (पृ० 19)

योगिनीयोगमुद्रा

योगिनीयोगमुद्रां पर्यङ्कं बद्ध्वा वज्रबन्धं कृत्वा मध्यमाद्वयमुखेनाङ्गुष्ठद्वयमुखे योजयित्वा तर्जनीद्वयमुत्थाप्य परस्पराग्राभ्यां योजयेदिति योगिनीयोगमुद्रेति केचित्। योनिमुद्रामिति क्वचित्पाठेऽपीयमेव सा मुद्रा। (पृ० 565)

योगिन्यः

योगिन्य इति डाकिन्यादयश्चतस्रः काकास्यादयोऽष्टौ च। (पृ० 26)

रक्तम् (मूत्रम्)

रस्यतेऽन्नादीति रक्तं मूत्रम्। (पृ० 25)

रहस्यम्

रहस्य इति। कालदेशस्वभावा असर्वजनगोचराः। कालोऽतीतादिः, स च कालविशेषः ...देशः प्रदेशः, स 'रहस्य' इत्यादिपदवाच्यः। स्वभावो निजरूपम्, तच्च श्रीहेरुकभावनास्थानसमयाचाराध्येषणपूजादिलक्षणम्। अथवा महावज्रधरो रहःशब्दवाच्यः, तस्यासर्वजनगम्यस्वभावत्वात्। अतोऽस्य विगतसामान्यजनाधिगमत्वे विजनत्वम्। तत्र भवं रहस्यम्। तच्च चतुर्विंशतिवीरसप्तत्रिंशद्दीरिणीसमन्वितश्रीहेरुकभावनास्थानसमयाचारादियत्किञ्चित् तत्र वाच्यम्, अत एवैतदेवाभिधेयम्। एतदेव च श्रीचक्रसंवरार्थशरीरम्। (पृ० 3)

रहःशब्देन ज्ञानचित्तवाक्कायश्मशानसंज्ञकाः पञ्चचक्रवर्तिन्यः सवीरा निर्वीराश्च सप्तत्रिंशद्योगिन्यः। तत्र रहसं (सि) साधुरहस्यम्, योगिनीनां स्थितौ योग्यमित्यर्थः। तच्च कूटागारम्। (पृ० 6)

लामा (योगिनी)

लामानां लामाजातीयानां योगिनीनामित्यर्थः। (पृ० 112)

वज्रकणिका

वज्रं निर्मला बुद्धिः, तदेव कणिका सूक्ष्मत्वात्। वज्रं च कणिका चेति वज्रकणिका, सहजं ज्ञानमित्यर्थः। (पृ० 27)

वज्रकुलम्

वज्रकुलं वाराहीकुलम्। (पृ० 101)

वज्रपद्मम्

वज्रलाञ्छितं पद्मं कपालं वज्रपद्मम्। (पृ० 492)

वज्रवाराही (देवी)

दीव्यति भगवता सहेति देवी। वज्रेण वराकान् क्लेशानाहन्तीति वज्रवाराही।

(पृ० 33)

वज्रसत्त्वः

अभेद्याशयः, अभेद्याधिमुक्तिरिति भावः। अभेद्याधिमोक्षोऽपि न शोभत। ...परार्थे रमत इति परमम्। क्रियाविशेषणमिदम्। परं यथा स्यात्तथा वज्रसत्त्व इत्यर्थः। “परमार्थ-विकल्पोऽपि नालमर्थप्रसिद्धये”। (पृ० 7)

वशीकरणम्

यतो वशीकृताः सत्त्वाः स्वशासने नियोजितुं शक्याः। ...येन होमेनावशं सत्त्वं वशं नयेत् तमित्यर्थः। (पृ० 544)

वश्याधिकारः

वशेऽपि कृतं वश्यं कर्म तदधिक्रियते येन वश्याधिकारो भैषज्यादिहोमप्रकारः।

(पृ० 537)

वसुन्धरा

वसूनि रत्नानि धारयतीति वसुन्धरा। आक्रम्य रत्नपूर्णा पृथ्वी तेन भुज्यत इति भावः।

(पृ० 123)

वाक्चक्रम्

प्रज्ञेन्द्रियस्वभावा ऐरावती। श्रद्धाबलस्वभावा महाभैरवा। वीर्यबलस्वभावा वायुवेगा। स्मृतिबलस्वभावा सुराभक्षी। समाधिबलस्वभावा श्यामादेवी। प्रज्ञाबलस्वभावा सुभद्रा। समाधिसंबोध्यङ्गस्वभावा हयकर्णा। वीर्यसंबोध्यङ्गस्वभावा खगानना इति वाक्चक्रम्। (पृ० 46)

वामा

वामा शून्यता। “शून्येभ्यो धर्मेभ्यः शून्या एव धर्माः प्रजायन्ते” इति वचनात्। वामा प्रज्ञा च। (पृ० 515)

विज्ञानम्

तस्य हृदि चाङ्गुष्ठपरिमाणं विमलस्फटिकसमं विज्ञानं ध्यायात्। (पृ० 557)

विद्याराजचक्रवर्ती

विद्याराजचक्रवर्तीति। विद्याभिर्देवताभी राजन्त इति विद्याराजाः, विद्याराजानामन्येषां मध्ये चक्रवर्ती। (पृ० 513)

विद्याराजमन्त्रः

विद्याराजः श्रीहेरुकः तस्य मन्त्रः। अष्टपदस्य मन्त्रत्वेनासिद्धत्वान्नायं वर्णोद्धार-मात्रात्मकत्वाद् विद्याराजस्य मन्त्र इत्युच्यते सांप्रतम्। अथवा विद्या डाकिन्यादयो राजन्ते जायन्तेऽने[नेति] विद्याराजो मन्त्रः करकरादिः। प्रथमार्थे षष्ठी। बुद्धरेखायामस्य ग्रथनादस्यैव विद्याराजत्वमित्युपदेशः। (पृ० 58)

विधिज्ञानम्

विधीयत इति विधिः, सुकृतादि कर्म, तस्य ज्ञानं ज्ञातव्यं त्वम्, तदस्तीति। एतच्च सूचयिष्यति—

घृतपूर्णं यथा भाण्डं स्थापितमग्निमध्यके ।

द्रवन्तं द्रवते सर्पिः कालं नश्यति भाण्डयोः ।

तथा नश्यति पापं च श्रीहेरुकेति नामतः ॥ (च० सं० 51.7-8)

इति वचनेन। अथवा विधिरिहातीतानागतप्रत्युत्पन्नरूपः कालः। ज्ञानमष्टौ ज्ञान-कायाः। विधिश्च ज्ञानं चेति विधिज्ञानम्। योगं विधिज्ञानं रहस्यमित्यादिपदाभिधेयम्। (पृ० 19)

विश्ववराहः

विश्ववराहो नानावर्णो मृगविशेषः। (पृ० 580)

वीरपूजा

वीरपूजा मत्स्यमांसादिकृता। (पृ० 533)

वीरमद्वयम्

विसदृशं ग्राह्यादिरूपमीरयतीति वीरः, स च चित्तमात्रम्। अत आह—अद्वयम्। ततो वीरम् अद्वयमेव पूजयेदिति भावः। (पृ० 34)

वीरयोगिन्यद्वयम्

वीरत्वं गता इति चतुर्विंशतियोगिनीनां विशेषणम्। एता वीरत्वं वीराङ्गत्वं गता लब्धाः, वीरालिङ्गनयुक्ता इत्यर्थः। वीरास्तु खण्डकपालादयः। ते चैकवक्त्राश्चतुर्भुजास्त्रिनेत्रा जटामकुटपटका व्याघ्रचर्माम्बरा वज्रवज्रघण्टाधारिवामदक्षिणभुजद्वयालिङ्गना अपरवाम-दक्षिणभुजखट्वाङ्ग डमरुका आलीढासनाश्चक्रीकुण्डलादिमुद्रान्विताश्चक्रानुरूपदेवीवर्णाः। प्रचण्डादयोऽप्यालिङ्गितभुजद्वया अपरवामदक्षिणभुजभूतरक्तपूर्णकपालतर्जनीकाः। डाकिन्या-दयो वामभुजद्वयेन खट्वाङ्गकपालधरा दक्षिणेन डमरुकतीधराः। काकास्यादयो डाकिन्यादि-चिह्नधराः। यमदाढ्यादयो वामतो भुजद्वयेन डमरुकतीचिह्नधरा दक्षिणेन खट्वाङ्गकपाल-धराः। डाकिन्यादयः षट्त्रिंशद्योगिन्यस्त्रिनेत्रा एकवक्त्रा मुक्तकेश्यो नग्ना आलीढपदस्था रौद्ररूपाः कण्ठिकाद्याभरणाः। किञ्च ललाटस्थवज्रमाला वीरवीरिण्यश्च। (पृ० 46)

वीरान्विता योगिन्यो वीरयोगिन्यः चतुर्विंशति। (पृ० 47)

वीरः

क्लेशसन्त्रासजेतृत्वाद् वीरः। (पृ० 7)

वीरेण वज्रधरेण। (पृ० 529)

वीरः श्रीहेरुकः। (पृ० 516)

वीराद्वयसमापत्तिः

वीरैरद्वयेन रूपेण समापत्तिर्यासां ता वीराद्वयसमापत्तिशब्दार्थः, विभक्तिलोपात्।

(पृ० 26)

वीराः (चतुर्विंशति)

चतुर्विंशतिवीराणामिति। चतुर्विंशत्या वीरैः सर्वमाण्डलं शरीरं च। अत आह—जगदिति। अस्य शरीरवाचकत्वात्। खण्डकपाली महाकङ्कालः कङ्कालो विकटदंष्ट्री सुरावैरी अमिताभो वज्रप्रभो वज्रदेहः। अङ्कुरिको वज्रजटिलः महावीरो वज्रहूँकारः सुभद्रो वज्रभद्रो भैरवो विरूपाक्षः। महाबलो रत्नवज्रो हयग्रीव आकाशगर्भः श्रीहेरुकः पद्मनर्तेश्वरो वैरोचनो वज्रसत्त्वः। इत्येभिरष्टभिः खण्डकपालादिभिर्वज्रदेहान्तैः कृष्णश्चित्तचक्रं कृष्णम्। अङ्कुरादि-भिर्विरूपाक्षान्तैः रक्तै रक्तं वाक्चक्रम्। महाबलादिभिर्वज्रसत्त्वान्तैः श्वेतैः श्वेतं कायचक्रम्। एतेषां द्विभुजं चतुर्भुजत्वं वा आचार्यमतेन। शिरःशिखादक्षिणकर्णशिरःपृष्ठवामकर्णभूमध्य-

नेत्रद्वयबाहुमूलद्वयकक्षद्वयस्तनयुगलनाभिनासिकामुखकण्ठहृदयमेढ्रलिङ्गगुदोरुजङ्घामङ्गुलि-
पादपृष्ठतदङ्गुष्ठजानुद्वयेषु खण्डकपालादयः प्रचण्डायुक्ता भाव्याः। इत्थमेभिः शरीरव्याप्तिः।

(पृ० 577-578)

वीरेशः

वीरेशः श्रीहेरुकः। (पृ० 544)

वेदाङ्गानि (षट्)

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचितिर्ज्योतिषश्चेति वेदाङ्गानि षट्। (पृ० 491)

शक्तिमुद्रा

अङ्गुष्ठेन शेषसर्वाङ्गुलिसमाक्रमणादूर्ध्वीकृतां तर्जनीं धारयेदिति शक्तिमुद्रा। (पृ० 115)

शङ्खमुद्रा

उत्तानवामकरकनीयस्याद्यङ्गुलित्रयं संकोच्य तर्जन्यङ्गुष्ठौ संयोज्य प्रसारयेदिति
शङ्खमुद्रा। (पृ० 115)

शालिः

शालिर्हेमन्तो ब्रीहिविशेषः। (पृ० 580)

शिवम्

शिवं कल्याणवाहकत्वात्। (पृ० 48)

शिष्यपरीक्षा

शिष्यन्ते स्वशासने नियुज्यन्त इति शिष्याः। तेषां परीक्षा परित ईक्षणं गुणेन दोषेण
चालोकनं शिष्यपरीक्षा। (पृ० 487)

शुचिः

शुचिरिति कौकृत्यमलरहितः। (पृ० 29)

(त्रिविधं) शौचम् (हेरुकयोगं)

श्रुतिस्मृत्यादिविहितयज्ञोपवीतादिजनितं शौचं त्यक्त्वा श्रीहेरुकयोगस्थितं शौच-
मित्याशयः। ...

क्रियाज्ञानं सुगुप्तं च प्रशान्तवर्जितश्रमः ।

शौचं च त्रिविधं ज्ञेयं स्वस्त्रोतसि व्यवस्थितम् ॥ इति ।

...क्रियया सेवया ज्ञानं सहजानन्दज्ञानं च सुगुप्तम् । प्रशान्तः कारुणिको
वर्जितश्रमश्च । शौचं च तस्य त्रिविधं तच्चानवग्रहेण रागादिप्रवर्तनम् । ...

दूत्यं तु प्रथमं शौचं द्वितीयं सोममिष्यते ।

एकत्र प्राशनं चैव तृतीयं शौचमुच्यते ॥

एतच्छौचप्रपालनाच्छौचशुद्धिः प्रजायते ।

योगिनश्च क्रमात् प्राप्य कस्य सिद्धिर्न जायते ॥ (च० त० 17.21-22)

शौचान्तरमाह—दूत्यं दूत्यः । बिन्दोरेकस्य लोपः । सोममिति । सोमो बोधिचित्तम् ।
एकत्रप्राशनं यत् स चरुरित्यर्थः । चरुमिति । बिन्दोरेकस्य लोपे । तच्च तृतीयं शौचं ।
एतच्छौचप्रपालनाच्छौचशुद्धिः क्रमात्प्राप्य कस्य सिद्धिर्न जायते इति । एतेषां शौचानां
प्रपालनात् शौचशुद्धिं प्राप्य [कस्य] महामुद्रासिद्धिर्न जायते । (पृ० 493-494)

योगमार्गरतानां तु अयं शौचं समाचरेत् ।

शौचानां यत्पुण्यं तदेकेन वक्तुं न शक्यते ॥ (च० त०, पृ० 495)

शौचमेवानुशंसयन्नाह—योगेत्यादि । चित्तमात्रसमापत्तिर्योगः । स एव संबोधिमार्गस्त-
द्रतानां मध्येऽयं श्रीहेरुकयोगं शौचं प्रागुक्तं समाचरेत् । शौचप्रयोजनमाह—शौचानामित्यादि ।
दूत्यादयः शौचहेतुत्वाच्छौचानि । तेभ्यो यत्पुण्यं तदेकेन वक्त्रेण वक्तुं न शक्यते । (पृ० 495)

श्मशानचक्रम्

सम्यक्कर्मन्तस्वभावा काकास्या । सम्यगाजीव[स्वभावा] उलूकास्या । सम्यग्-
व्यायामस्वभावा श्वानास्या । सम्यक्स्मृतिस्वभावा शूकरास्या । अनुत्पन्नकुशलधर्मोत्पादन-
स्वभावा यमदाढी । उत्पन्नकुशलधर्मसंरक्षणस्वभावा यमदूती । उत्पन्नाकुशलधर्मप्रहाण-
स्वभावा यमदंष्ट्रिणी । अनुत्पन्नाकुशलधर्मानुत्पादनस्वभावा यममथनीति श्मशानचक्रम् ।

(पृ० 46-47)

श्मशानम्

श्मशानं शवनिलयः । (पृ० 27)

स(श)कलीकृत्य विग्रहम्

स(श)कलीकृत्य विग्रहमिति । प्रज्ञाशस्त्रेण स्कन्धादिरूपं शरीरं खण्डशो विभज्य
शून्यतां भावयेदिति भावः । (पृ० 491)

सत्त्वः

सत्त्वार्थकरणे प्रवृत्तत्वात् सत्त्वः। (पृ० 7)

सप्तरत्नानि

रत्नानि मौक्तिकादीनि। ...हस्तिरत्नम्, अश्वरत्नम्, मणिरत्नम्, खड्गरत्नम्, चक्ररत्नम्, परिणायकम्, स्त्रीरत्नं चैते(तानि) सप्तरत्ना[नि]। (पृ० 35)

सप्ताक्षरो मन्त्रः

वामहस्ते शशिविम्बं विचिन्त्य तत्र नवकोष्ठं चक्रं तस्य मध्ये ॐ। पूर्वे ह्रीः। दक्षिणे ह। पश्चिमे ह। उत्तरे हूँ। पुनर्मध्ये हूँ। कोणचतुष्टये फट्। इति सप्ताक्षरो मन्त्रः। टकारं विहाय सप्ताक्षरत्वम्। ॐकारमिति केचित्। (पृ० 557)

ॐ हाँ हीँ हूँ हुँ फट् इति सप्ताक्षरो मन्त्रः। (पृ० 560)

समयः

समयो गोकुदहनलक्षणः। (पृ० 499)

समयरक्षणम्। (पृ० 504)

समयो मन्त्रमुद्रासिद्धान्ताः ब्रह्माणो बुद्धाः। (पृ० 539)

समयाचारगोचराः

समयो गोकुदहनादि, तस्याचारः सेवा। स एव गोचरो यासां डाकिनीलामादीनां ताः समयाचारगोचराः। गोचरो विषयः समयो निर्माणम्। तच्च सत्त्वार्थप्रतिबद्धमिति केचित्। (पृ० 17)

समयश्चान्यत्रोक्तः। तथा चाह—

नादिं गादिं तथा हादिमन्तश्चमादिश्वं च वा॥ इति। (हे० त० 1.11.8)

(पृ० 24-25)

समयाचारः (अष्टौ)

समयानां योगिनीनाम्, आचारः कामसेवादितः। (पृ० 486)

समयी

समयोऽनतिक्रमणीयो विधिः, स यस्यास्तीति समयी। (पृ० 102)

समयी चर्यायोगी नाक्रोशेच्चित्तमुत्पादयेदिति भावः। (पृ० 492)

समुद्रमुद्रा

आकाशे वेपमानेन हस्तद्वयेन समुद्रमुद्रा। (पृ० 120)

सम्भोगकायः

सम्भोगमाह—सम्भोगेत्यादि। असेचनकविग्रहादियुक्तो धर्मदेशनां यदा करोति तदा संभोगकायो बोधिसत्त्वगोचरः। प्रवाहनित्यः संभोग इति। बुद्धबोधिसत्त्वैः सम्यक्प्रतिपत्त्या भुज्यत आत्मसात् क्रियत इति स, तथा। तथा चाह—

लोकातीतामचिन्त्यां सुकृतसफलां (लता) मात्मनो यो विभूतिं
पर्षन्मध्ये विचित्रां प्रथयति महतीं धीमतां प्रीतिहेतोः ।
बुद्धानां सर्वलोकप्रसृतमविरतोद्धारसद्धर्मघोषं
वन्दे संभोगकायं तमहमिहमहाधर्मराज्यप्रतिष्ठम् ॥ इति ।

(पृ० 82-83)

सम्यक्सिद्धिः

यस्याश्च स्मरणमात्रेण त्रैलोक्यमपि कम्पते यतश्च सम्यक्सिद्धिः संबोधिरिति ।

(पृ० 574)

सम्यग्ज्ञानतन्त्रज्ञः

सम्यगविपरीतं ग्राह्यादिरहितं ज्ञानमस्येति सम्यग्ज्ञानः। स चासौ संवरादितन्त्रज्ञश्चेति सम्यग्ज्ञानतन्त्रज्ञः। (पृ० 29)

संवरः

संवरः समयः। (पृ० 487)

सिद्धिः

सिद्ध्यति साक्षाद् भवतीति सिद्धिः सम्यक्सम्बोधिः। (पृ० 80)

सिद्धिर्महामुद्रासिद्धिः। ...सामान्यसिद्धिरपि तेभ्य आप्यत इत्याह—सिद्धिसाधनमेव चेति। आकर्षणवेताडादिसिद्धिरपि साधननिष्पत्तिः। ...पातालसिद्धिः। बिले प्रवेशसिद्धिरिति यावत्। उत्तिष्ठेत्यन्तरीक्षगमनम्। खड्गं चेति खड्गसिद्धिः। ...चक्रादिसिद्धिः। ...गुलिकाञ्जन-निधानं वा पादलेपो रसायनमिति। (पृ० 519-521)

सुखम्

सुखमिति। सुष्ठु खं शून्यम्, परमार्थापरमार्थसङ्गाभ्यां रहितत्वात्। (पृ० 7)

सोमपानम्

विप्राणां यागकाले कालिङ्गलतारसं कपिलगौचर्मणि निधापयेत्। स च सोमः, तस्य पानं तच्चायुष्यं पुण्यवर्धनम्। विप्रैर्यथा निःसंशयैः सोम आस्वाद्यते, तथा पञ्चामृतमास्वाद्य

योगी सिद्धिमाप्नोति शाश्वतीम् । शाश्वतफलदात्मकत्वान्निर्विचिकित्सास्वादनमात्रेण दृष्टान्तः, न तु फलेन । (पृ० 26)

सोमं मद्यम् । (पृ० 77)

सोममिति । सह उमाभ्यां वर्तत इति सोम ऊँकारः । उश्च मश्चेत्युमौ विलोमेन संधानम् । अर्द्धचन्द्रनादावुपदेशात् । (पृ० 77-78)

सोमपानमिति अमृतपानम् । (पृ० 98)

सोममिति । सोमो बोधिचित्तम् । (पृ० 494)

सोमसङ्गमसंस्थिताः

सोमेन बोधिचित्तेन सङ्गमो योगस्तत्र समतया स्थिताः सोमसङ्गमसंस्थिताः ।

(पृ० 498)

सौख्यम्

सुखं चेतसः सौस्थित्यं तदेव सौख्यम्, तच्च नरकप्रेततिर्यग्गतिगतानां सामान्यम् ।

(पृ० 27)

स्मृत्युपस्थानानि (चत्वारि)

कायानुस्मृत्युपस्थाने डाकिनी, वेदनास्मृत्युपस्थाने लामा, धर्मानुस्मृत्युपस्थाने खण्ड-रोहा, चित्तानुस्मृत्युपस्थाने रूपिणीत्यादि मण्डलतत्त्वं देवतातत्त्वं (च) प्रतिपादयेत् ।

(पृ० 40)

स्वयम्भूः

स्वयंभूरिति । दशबलवैशारद्यादीनां बुद्धगुणानां भूरहम् । (पृ० 7)

(श्री) हेरुकज्ञानम्

श्रीकारमद्वयं ज्ञानमित्यादिज्ञानं श्रीहेरुकज्ञानम् । (पृ० 80)

(श्री) हेरुकमन्त्रज्ञः

श्रीहेरुकमन्त्रज्ञ इति । श्रीहेरुकश्चाष्टपदादयो मन्त्राश्च, तान् यथोपदेशं जानातीति स, तथा । श्रीहेरुकस्य सततमन्त्रजापी वा । (पृ० 29)

(श्री) हेरुकः

श्रीकारमद्वयस्था (ज्ञा) नमभिधत्ते, हेकारो हेत्वादिशून्यताम्, रुकारोऽप्रणिधानम् । ककारो न क्वचित् स्थितमिति श्रीहेरुक इति स्थितम् । तदाह—

श्रीकारमद्वयं ज्ञानं [हेति] हेत्वादिशून्यता ।
क(रु)कारोऽपगतव्यूहं क इति न क्वचित् स्थितम् ॥ इति ।

(द्र०-यो० सं०, 9.7-8)

भूयश्च— श्रीकारमद्वयं ज्ञानं हेकारो हेतुवर्जितम् ।
रुकारो रूपनिर्मुक्तं ककारो करणाज्जितम् ॥

रूप्यत इति रूपम् । करणमिन्द्रियादि । अथवा—

हेरनिर्जितमारादीकम्भिः पूरितदिङ्मुखः ।
कल्पनाजालनिर्मुक्तो हेरुकस्तेन कीर्तितः ॥

इति हेरुकः । श्रीर्वज्रवाराही, तथा युक्तो हेरुकः श्रीहेरुक इति । मध्यमपदलोपी समासः । यथा ज्वरहरो मन्त्रो ज्वरमन्त्रः । (पृ० 4-5)

सम्यक्समाधिस्वभावः श्रीहेरुकः । (पृ० 47)

श्रीकारमद्वयं ज्ञानं हेति हेत्वादिशून्यता । रुकारापगतं व्यूहं क इति न क्वचित् स्थितम् इति प्रज्ञोपायात्मकः । (पृ० 591)

देवः श्रीहेरुकः । (पृ० 592)

(श्री)हेरुको मन्त्रः

श्रीयुक्तो हेरुको येन सिद्ध्यति स श्रीहेरुको मन्त्रः । (पृ० 59)

हासमन्त्रः

हासमन्त्रश्च—ॐ हा हा हे हे हो हो हं हं फट् स्वाहेति । ॐ किलि किलि सिलि सिलि चिलि चिलि धिलि धिलि फट् स्वाहेति च । (पृ० 584)

हाहाकारः

हाहाकारो नामाभिषेकः, तं गुरुभट्टारकेणात्मनः कारयेत् । भक्तिरेवास्य तादृशी यया शतं कुर्यादिति । कारयेदिति व्यपदेशः । ततोऽस्य भूयसी गुरुभक्तिः सूचिता । हाहाकारो नाम च “द्वयं शब्दात्मकमिति साम्यान्नाम तथोच्यते” । तत उदकमौलिवज्राधिपत्यभिषेकाणां ग्रहणं तत्पूर्वकत्वात्तयोः । ...हाहाकारो झंकारः । ...हाहाकारस्तथागतकुलम् । (पृ० 38)

(पापशोधनोपायभूतं चतुःप्रतिपक्षबलनिर्देशसूत्रम्)

[बुद्धवचन (काग्युर) संग्रह में “आर्यचतुर्धर्मनिर्देश नामक महायानसूत्र”, “आर्यचतुर्धर्मक नाम महायानसूत्र” तथा “चतुर्धर्मकसूत्र” नाम के तीन सदृश लघु सूत्र उपलब्ध होते हैं, लेकिन विषय प्रतिपादन की दृष्टि से तीनों भिन्न-भिन्न हैं। प्रस्तुत प्रथम ग्रन्थ में चार प्रतिपक्षबल के माध्यम से पापशोधन करने की प्रणाली दर्शाई गयी है। वैसे तो भगवान् तथागत के अनेक सूत्रों में पापशोधन के विषय में कहा गया है—जैसे शिक्षासमुच्चय के “पापशोधन परिच्छेद” में आर्यसुवर्णप्रभासोत्तमसूत्र आदि लगभग बीस से अधिक सूत्रों के उद्धरण दिये गये हैं। लेकिन प्रस्तुत ग्रन्थ “आर्यचतुर्धर्मनिर्देश नामक महायानसूत्र” इस विषय को अति स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने वाला एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

आकार में यह ग्रन्थ चाहे अत्यन्त लघु हो, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से परम उपादेय है। यहाँ इस सूत्र को सम्पादित मूल भोटपाठ, संस्कृत में पुनरुद्धार एवं हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया गया है।]

༥ འཕགས་པ་ཚོས་བཞི་བསྟན་པ་ཞེས་བྱ་བའི་མདོ།

(पापशोधनोपायभूतं चतुःप्रतिपक्षबलनिर्देशसूत्रम्)

(ཡིག་ཡིག་སྤོང་བའི་ཐབས་གཞིན་པོ་སྟོབས་བཞི་བསྟན་པའི་མདོ།)

(क) मूल भोट-पाठ

༡༡། །སྒྲིག་པ་སྐད་དུ། །ཞུ་ཅ་དུར་རྩམ་ནིར་དེ་ག་རྒྱམ་མུ་ཡུན་སྒྲིག་པ་
 བོད་སྐད་དུ། །འཕགས་པ་ཆོས་བཞི་བསྟན་པ་ཞེས་བྱ་བ་ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་མདོ། །སངས་
 རྒྱུ་དང་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཐམས་ཅད་ལ་ཕྱག་འཆའ་ལོ། །འདི་སྐད་བདག་གིས་
 ཐོས་པ་དུས་གཅིག་ན། །བཙོམ་ལྟན་འདས་སུམ་ཅུ་ཅ་གསུམ་ལྟའི་ནང་ན། །ལྟའི་འདུན་ས་

ཚེས་བཟང་ན་དག་སྤྲོད་ལྟ་བུ་ཐམ་པའི་དག་སྤྲོད་གི་དག་འདུན་ཆེན་པོ་དང་། བྱམས་པ་
 དང་། འཇམ་དཔལ་ལ་སོགས་པ་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔལ་སེམས་དཔལ་ཆེན་པོ་རབ་དུ་
 མང་པོ་དང་ཐབས་ཅིག་དུ་བཞུགས་ཏེ། དེ་ནས་བཙུམ་ལྟ་བུ་འདས་ཀྱིས་བྱང་ཆུབ་སེམས་
 དཔལ་སེམས་དཔལ་ཆེན་པོ་བྱམས་པ་ལ་བཀའ་སྤྱུལ་པ། “བྱམས་པ།” བྱང་ཆུབ་སེམས་
 དཔལ་སེམས་དཔལ་ཆེན་པོ་ཚེས་བཞི་དང་ལྟ་བུ་ན་སྤྱི་པ་བྱས་ཤིང་བསགས་པ་ཟེལ་གྱིས་
 རྩོམ་པར་འགྱུར་རོ། །བཞི་གང་ཞེ་ན། འདི་ལྟ་སྟེ། རྣམ་པར་སྦྱོར་འབྱེད་པ་ཀྱན་དུ་སྦྱོད་
 པ་དང་། གཉེན་པོ་ཀྱན་དུ་སྦྱོད་པ་དང་། སོར་ཆུད་པར་བྱེད་པའི་སྦྱབས་དང་།^༡ རྟེན་གྱི་
 སྦྱབས་སོ། །དེ་ལ་རྣམ་པར་སྦྱོར་འབྱེད་པ་ཀྱན་དུ་སྦྱོད་པ་ནི། མི་དག་བའི་ལས་སྦྱང་ན་དེ་
 ལ་འགྱེད་པ་མང་བ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལ་གཉེན་པོ་ཀྱན་དུ་སྦྱོད་པ་ནི། མི་དག་བའི་ལས་བྱས་
 རྣམ་ཀྱང་དག་བའི་ལས་ལ་ཤིན་དུ་བཙོན་པའོ། །དེ་ལ་སོར་ཆུད་པར་བྱེད་པའི་སྦྱབས་ནི།
 སྦྱོམ་པ་ཡང་དག་པར་སྤངས་པས་མི་བྱེད་པའི་སྦྱོམ་པ་ཐོབ་པའོ། །དེ་ལ་རྟེན་གྱི་སྦྱབས་ནི།
 སངས་རྒྱུས་དང་། ཚེས་དང་། དག་འདུན་ལ་སྦྱབས་སུ་འགྲོ་བ་དང་། བྱང་ཆུབ་ཀྱི་
 སེམས་མི་གཏོང་བ་སྟེ། དེ་སྦྱབས་དང་ལྟ་བུ་ལ་རྟེན་པས་སྤྱི་པས་ཟེལ་གྱིས་གཞོན་པར་མི་
 རྩལ་སོ། །བྱམས་པ། བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔལ་སེམས་དཔལ་ཆེན་པོ་ཚེས་བཞི་པོ་དེ་དག་
 དང་ལྟ་བུ་ན། སྤྱི་པ་བྱས་ཤིང་བསགས་པ་ཟེལ་གྱིས་ཞོན་པར་འགྱུར་རོ། ” །བྱང་ཆུབ་

^༡ ‘བྱམས་པ། ཞེས་སོགས་ནས་ཟེལ་གྱིས་ཞོན་པར་འགྱུར་རོ།’ ཞེས་པའི་བར་ལེགས་སྦྱར་རང་སྤྱོད་ཐོག་
 བསྐྱབ་བདུས་སུ་ལུང་འདྲིན་མཛད་ཡོད།

^༢ ལ་དུགས་བཀའ་འགྱུར། —སྤྱི་པ་ཆེན་པོ་བྱས་ཤིང་།

^༣ འདིའི་ཐད་བསྐྱབ་བདུས་སོགས་སུ་“ཉེས་པ་ལས་སྦྱོག་པའི་སྦྱབས་” ཞེས་དང་། གསུང་འབུམ་མང་པོའི་
 རྣང་ “ཉེས་པ་ལས་སྦྱར་ཐོག་པའི་སྦྱབས་” ཞེས་དང་། ཀྱན་བཟང་སྤྲོད་པའི་ཞལ་ལུང་དུ་“སྦྱོམ་པའི་སྦྱབས་”
 ཞེས་སོགས་གསལ་ཡོད།

^༤ སྤྱི་དག་དང་སྦྱར་ཐད་བཀའ་འགྱུར་སོགས་སུ་“མི་བྱེད་” ཅེས་གསལ་ཡོད། ལེགས་སྦྱར་དང་བསྐྱུན་ན།
 ལ་དུགས་བཀའ་འགྱུར་དུ་གསལ་བ་ལྟར། “མི་བྱེད་” ཅེས་གསལ་བ་འཐད་པར་མཛོན་ནོ།

आर्यचतुर्धर्मनिर्देशसूत्रम्

(पापशोधनोपायभूतं चतुःप्रतिपक्षबलनिर्देशसूत्रम्)

(ख) संस्कृते पुनरुद्धारितम्

भारतीयभाषायाम्—आर्यचतुर्धर्मनिर्देशं नाम महायानसूत्रम् ।

भोटभाषायाम्—फग्-पा-छोस्-शि-तेन्-पा-शेस्-जा-वा-थेक्-पा-छेन्-पोई-म्दो ।

नमः सर्वबुद्ध-बोधिसत्त्वेभ्यः

एवं मया श्रुतम्—एकस्मिन् समये भगवान् बुद्धः त्रायस्त्रिंशदेवेषु सुधर्मादेवसभायां सार्द्धं पञ्चानां भिक्षुशतानां महासंघेन, संबहुलैः मैत्रेयमञ्जुश्यादिबोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैर्विहरतिस्म । तस्मिन् समये भगवान् बुद्धः बोधिसत्त्वं महासत्त्वं मैत्रेयमुद्दिश्योपदिष्टवान्—

*चतुर्भिर्मैत्रेय ! धर्मैः समन्वागतो बोधिसत्त्वो महासत्त्वः कृतोपचितं पापमभि-
भवति । कतमैश्चतुर्भिः ? यदुत विदूषणासमुदाचारेण, प्रतिपक्षसमुदाचारेण, प्रत्यापत्ति-
बलेन, आश्रयबलेन च । तत्र विदूषणासमुदाचारोऽकुशलं कर्माध्याचरति, तत्रैव तत्रैव
च विप्रतिसारबहुलो भवति । तत्र प्रतिपक्षसमुदाचारः कृत्वाऽप्यकुशलं कर्म कुशले
कर्मण्यत्यर्थाभियोगं गतः । प्रत्यापत्तिबलं संवरसमादानादकरणसंवरलाभः । तत्राश्रयबलं
बुद्ध-धर्म-संघशरणगमनमनुत्सृष्टबोधिचित्तता च । सुबलवत्संनिश्रयेण न शक्यते
पापेनाभिभवितुम् । एभिर्मैत्रेय ! चतुर्भिर्धर्मैः समन्वागतो बोधिसत्त्वो महासत्त्वः
कृतोपचितं पापमभिभवतीति ॥*

बोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैः सूत्रमिदं सदा पठनीयं (वाचयितव्यं) स्वाध्यायितव्यं
चिन्तयितव्यं सुबहुलं भावयितव्यं च । अनेन दुश्चरितानि फलं नाभिनिर्वर्तिष्यन्ते । एवं भगवान्
उपदिष्टवान् । बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन मैत्रेयेण तैश्च भिक्षुभिः बोधिसत्त्वैः शतक्रत्वादिदेवपुत्रैः
सर्वसम्पन्नपरिमण्डलेन च आप्तमनसा भगवतः प्रवचनमभिनन्दितम् ।

॥ इति आर्यचतुर्धर्मनिर्देशं नाम महायानसूत्रं समाप्तम् ॥

भारतीयोपाध्यायसुरेन्द्रबोधिना महालोचावा-वन्देज्ञानसेनेन चानूदितं व्यवस्थापितं च ।

॥ भवतु सर्वमङ्गलम् ॥

* * इयान् अंशः संस्कृतभाषायां शिक्षासमुच्चये समुपलभ्यते । द्र०-परि० 8, पृ० 89 (बौद्धसंस्कृतग्रन्थावली-
11, दरभंगा)

आर्यचतुर्थधर्मनिर्देशसूत्र

(पापशोधन का उपायरूपी चार प्रतिपक्षबलनिर्देश सूत्र)

(ग) हिन्दी भाषानुवाद

भारतीय भाषा में—‘आर्यचतुर्थधर्मनिर्देश’ नामक महायानसूत्र

भोट भाषा में—फग्-पा-छोस्-शि-तेन्-पा-शेस्-जा-वा-थेक्-पा-छेन्-पोई-मदो।

सभी बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों को प्रणाम

ऐसा मैंने सुना—एक समय भगवान् बुद्ध त्रायस्त्रिंश देवों के बीच ‘सुधर्मा’ नामक देवसभा में पाँच सौ भिक्षुओं के महासंघ, मैत्रेय, मञ्जुश्री आदि अनेक बोधिसत्त्व, महासत्त्वों के साथ विहार कर रहे थे। उस समय भगवान् बुद्ध ने मैत्रेय बोधिसत्त्व महासत्त्व को लक्ष्य करके कहा—मैत्रेय, चार धर्मों से समन्वागत बोधिसत्त्व महासत्त्व किये हुए और संचित पापों का अभिभव करता है। किन चार (धर्मों) से? (1) विदूषणासमुदाचार से, (2) प्रतिपक्ष के समुदाचार (आचरण) से, (3) प्रत्यापत्ति बल से तथा (4) आश्रय बल से।

इनमें (से प्रथम) विदूषणासमुदाचार तो (जहाँ-जहाँ) अकुशल कर्म का अध्याचरण (अधिक आचरण) किया गया है, वहाँ-वहाँ ही बहुत पश्चात्ताप करना है। इनमें (से दूसरा) प्रतिपक्ष-समुदाचार तो अकुशल कर्म करने पर भी कुशल कर्म करने में अत्यधिक प्रयास करना है। इनमें (से तीसरा) प्रत्यापत्तिबल तो संवर (पाप न करने का व्रत) ले लेने से पाप न करने के संवर का लाभ है। इनमें (से चतुर्थ) आश्रयबल तो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाना और (गृहीत) बोधिचित्त का त्याग न करना है। क्योंकि बलवान् का आश्रय ले लेने से पाप से पराभूत होना सम्भव नहीं होता। मैत्रेय, इन चार धर्मों से समन्वागत बोधिसत्त्व महासत्त्व कृत और संचित पापों का अभिभव (पराजय) करता है।

बोधिसत्त्व महासत्त्वों को इस सूत्र का पाठ (वाचन) हमेशा करना चाहिए, चिन्तन करना चाहिए तथा अत्यधिक भावना करनी चाहिए। उसकी वजह से (किये हुए) दुश्चरित (पाप अपने) फल को उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार भगवान् ने उपदेश दिया। मैत्रेय बोधिसत्त्व महासत्त्व ने, उन (उपस्थित) भिक्षुओं ने तथा कौशिक आदि

देवपुत्रों ने और सभी सत्त्वों से सम्पन्न मण्डल ने प्रसन्नचित्त होकर भगवान् के प्रवचन (उपदेश) का अभिनन्दन किया।

॥ आर्यचतुर्धर्मनिर्देश नामक महायानसूत्र समाप्त ॥

भारतीय उपाध्याय सुरेन्द्रबोधि और भोटदेशीय लोचावा वन्दे ज्ञानसेन के द्वारा (यह) अनुवाद किया गया और व्यवस्थित किया गया।

ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय

समस्त प्राणी निश्चय ही सुख एवं शान्ति चाहते हैं। दुःख और अशान्ति कोई भी नहीं चाहता। यह प्राणिमात्र का स्वभाव (प्रकृति) है। ये इष्ट सुख और अनिष्ट दुःख भी निर्हेतुक नहीं हैं, अपितु निश्चित रूप से कुशल (पुण्य) और अकुशल (पाप) हेतुओं पर निर्भर करते हैं। इस अपरिवर्तनीय स्थिति को देखकर दुःख और अशान्ति के कारण पाप या अकुशल कर्म, जो पहले से संचित हैं, उन्हें देखना और उन्हें पुनः संचित न होने देने के लिए प्रयत्न करना अत्यावश्यक है।

अनादिकाल से प्रवहमान दुःख और अशान्ति (उपद्रव) की धारा को न चाहने वाले प्राणी कर्म और क्लेशों के वशीभूत होकर प्रायः पाप और अकुशल कर्मों का निरन्तर संचय करते रहते हैं। उन अनिष्ट दुःख और दुश्चरितों से मुक्ति प्राप्त करने और उन्हें दूर करने के लिए महाकारुणिक भगवान् तथागत ने उपाय के रूप में अनेक देशनाएं की हैं। उनमें से प्रस्तुत 'आर्यचतुर्धर्मनिर्देशसूत्र' की देशना उपाय का प्रतिपादन करने वाले सूत्रों में एक विशिष्ट एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय

प्रथम विदूषणासमुदाचार का अनुष्ठान करते समय अनादिकाल से संचित पापकर्मों को ध्यान में रखकर उनके प्रति अत्यन्त तीव्र पश्चात्ताप करना चाहिए। इसके माध्यम से उन पापकर्मों से उत्पन्न होने वाले तीन (विपाक, निष्यन्द और अधिपति) फलों को दृष्टि में रखते हुए उन पर निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। इसके अनुष्ठान की प्रक्रिया के बारे में 'शिक्षासमुच्चय' में निर्दिष्ट 'सुवर्णप्रभाससूत्र' के पापदेशना प्रकरण एवं 'आर्य-उपालिपरिपृच्छासूत्र' में उल्लिखित पैंतीस बुद्धों के माध्यम से पापदेशना की विधि कही गयी है।

द्वितीय प्रतिपक्षसमुदाचार का अनुष्ठान करने के लिए शिक्षासमुच्चय में छह प्रकार की विधियों का वर्णन किया गया है, यथा—(1) प्रज्ञापारमिता आदि गम्भीर सूत्रान्तों का

(अर्थ समझते हुए) बार-बार पाठ आदि करना, (2) शून्यता के प्रति अधिमुक्ति अर्थात् नैरात्म्य तत्त्व के प्रति अभिरुचि रखते हुए (सभी धर्म) आदितः प्रकृतितः शून्य, शान्त आदि हैं, इस पर विश्वास के साथ भावना करनी चाहिए, (3) जप पर आश्रित होना अर्थात् शताक्षरी धारणी आदि विशिष्ट धारणियों का विधिवत् जप करना, (4) मूर्ति पर आश्रित होना अर्थात् बुद्ध के प्रति श्रद्धासम्पन्न होकर बुद्ध आदि की मूर्ति का निर्माण करना, (5) पूजा पर आश्रित होना अर्थात् बुद्ध एवं उनकी धातु पर निर्मित स्तूपों की अनेकधा पूजा करना, (6) नाम पर आश्रित होना अर्थात् बुद्ध और आर्यबोधिसत्त्वों के नाम का श्रवण कर उनको मन में धारण करना है। इसके अतिरिक्त बोधिचित्त का उत्पाद करना आदि सभी कुशल कर्मों का संचय करना प्रतिपक्षसमुदाचार का अभिप्राय है।

तृतीय प्रत्यापत्तिबल—इसके अनुष्ठान के अवसर पर त्रिमुख (काय, वाक्, चित्त) से होने वाले दस अकुशल आदि सभी पापकर्मों को 'चाहे जान ही क्यों न चली जाए, फिर भी' भविष्य में सर्वथा न करने की अन्तर्हृदय से दृढ़ प्रतिज्ञा करना ही इसका आशय (तात्पर्य) है। केवल शब्दमात्र का उच्चारण कर देना पर्याप्त नहीं है। इस (प्रत्यापत्ति बल) का सम्यग् उत्पाद भी प्रथम (विदूषणासमुदाचार) पर निर्भर है।

चतुर्थ आश्रयबल—इस अवस्था में त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) के प्रति दृढ़ विश्वास और श्रद्धा के साथ (उनकी) शरणगमन करना तथा बोधिचित्त की भावना करना कहा गया है।

सामान्यतया जिन (बुद्ध) तथागत ने आदिकर्मिक लोगों के लिए पापदेशना अर्थात् पापशोधन के लिए अनेक उपायों का प्रतिपादन (प्रदर्शन) किया है। किन्तु प्रतिपक्ष की पूर्णता उपर्युक्त चार बलों के परिपूर्ण होने पर निर्भर करती है। इसलिए इन चार बलों के माध्यम से पापशोधन करने को अधिक महत्त्व दिया गया है। पापों का प्रतिपक्ष के द्वारा प्रहाण करने के लिए प्रयत्न नहीं करने पर उन (दुष्कर्मों) के अनिष्ट विपाक फल से छुटकारा नहीं होता है। अर्थात् अनिष्ट फल अवश्य प्राप्त होंगे। उदानवर्ग में कहा भी गया है—

न अन्तरीक्षे न समुद्रमध्ये

न पर्वतानां विवरं प्रविश्य ।

न विद्यते स जगति प्रदेशो

यत्र स्थितो मुच्येत पापकर्मणः ॥

(धम्मपदं, पापवग्गो, 12 कारिका)

न तो अन्तरिक्ष (आकाश) में, न समुद्र के भीतर और न ही पर्वतों की गुफा में ऐसा संसार में कोई स्थान है, जहाँ स्थित हो (बैठ) कर कोई व्यक्ति (अपने किये हुए) पापकर्म से मुक्ति पा सके। अतः (यदि आप) उन अनिष्ट विपाक फलों को भोगना नहीं चाहते हैं तो अपने द्वारा किये गये पापकर्मों को शरीर के भीतर घुसे हुए विष की भाँति समझकर तीव्र पश्चात्ताप के साथ अतिशीघ्रता से पापों का शोधन करना चाहिए और यही इस ग्रन्थ का मुख्य अभिधेय है। तन्त्र के साधनों में भी गुरु से अभिन्न जिन-वज्रसत्त्व की भावना एवं जप के माध्यम से पाप-शोधन करने की विधि अनेक तन्त्र ग्रन्थों में कही गयी हैं।

वैसे तो पापशोधन करने के विषय में अनेक सूत्रों में वर्णन उपलब्ध होते हैं—जैसे शिक्षासमुच्चय के “पापशोधन परिच्छेद” में आर्यसुवर्णप्रभासोत्तमसूत्र, आर्योपालि-परिपृच्छासूत्र, उपायकौशल्यसूत्र, भैषज्यगुरुवैद्यप्रभराजसूत्र आदि लगभग बीस से अधिक सूत्रों के उदाहरण दिये गये हैं। लेकिन प्रस्तुत सूत्र इस विषय को प्रतिपादित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण एवं स्वतन्त्र सूत्र ग्रन्थ है। काग्युर संग्रह में इस ग्रन्थ के नाम से और ग्रन्थ के आकार से मिलता-जुलता “आर्यचतुर्धर्मकनाम महायानसूत्र” तथा “चतुर्धर्मकसूत्र” नाम से दो सूत्र उपलब्ध हैं, लेकिन अभिधेय का प्रतिपादन इससे भिन्न है। इनके अतिरिक्त “बोधिसत्त्वप्रतिमोक्षचतुष्कनिर्हारसूत्र” तथा “आर्यचतुष्कनिर्हारसूत्र” नाम से दो ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। उसी प्रकार तन्युर संग्रह में भी “आर्यचतुर्धर्मक व्याख्यान” तथा उसकी टीका भी उपलब्ध है। लेकिन ये दो भी प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय से भिन्न हैं। ग्रन्थ के आकार की दृष्टि से यह ग्रन्थ चाहे अत्यन्त लघु हो, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से परम उपादेय है। यहाँ इस सूत्र के मूल भोटपाठ को सम्पादित कर संस्कृत में पुनरुद्धार एवं हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया गया है।

इस महत्त्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन करने वाले प्रस्तुत सूत्र का संस्कृत में पुनरुद्धार एवं उसका हिन्दी-अनुवाद कर पाना बौद्ध विद्याओं के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रो० रामशंकर त्रिपाठी (शोध-आचार्य) के अमूल्य सहयोग के बिना सम्भव नहीं था, यह उनके सहयोग का ही प्रतिफल है। अतः मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इस परम पुनीत कार्य से प्राप्त समस्त पुण्यों से “सभी सत्त्व पाप एवं क्लेशों से रहित होकर सर्वज्ञता-प्राप्ति की ओर उन्मुख हों”—ऐसी परिणामना करता हूँ।

बौद्ध-अष्ट महाचैत्यों का स्वरूप एवं भेद

—लोसंग दोर्जे—

[बौद्ध चैत्यों का निर्माण बुद्ध के जीवनकाल में ही प्रारम्भ हो गया था। प्रस्तुत निबन्ध में चैत्य-निर्माण की प्रारम्भिक घटना का उल्लेख करते हुए अवशेष चैत्य एवं धर्मकाय चैत्य का स्वरूप बतलाया गया है। तदनन्तर अष्ट चैत्यों के माप का उल्लेख करते हुए भोट परम्परानुसार स्वीकृत पद्मघटक चैत्य आदि आठों चैत्यों की आकृति एवं प्रतीकों के लाक्षणिक अर्थों को स्पष्ट किया है। तन्त्रशास्त्रों में उद्धृत चैत्यों का विवेचन करते हुए आठ महाचैत्यों के निर्माणस्थलों एवं उनके निमित्त का भी उल्लेख किया गया है। अन्त में स्तूप एवं चैत्य शब्द का विमर्श करते हुए दोनों के मौलिक भेदों को इंगित करने का प्रयास किया गया है।]

बौद्ध चैत्य निर्माण का प्रारम्भ

बौद्ध चैत्यों के निर्माण का प्रारम्भ तथागत के जीवनकाल में ही प्रारम्भ हो गया था। जैसे तथागत ने क्षुद्रकविनयसूत्र में कहा है—

“बुद्ध भगवान् के जीवनकाल में उनके अनेक परम शिष्यों में से प्रमुख शारिपुत्र ने जब निर्वाण प्राप्त किया तब उनकी धातु को आर्य मौद्गलीपुत्र ने अपने पास रखा। श्रावस्ती के श्रेष्ठी अनाथपिण्डद को जब यह सूचना प्राप्त हुई कि आर्य मौद्गलीपुत्र के पास शारिपुत्र की धातु विद्यमान है तो उन्होंने आर्य मौद्गलीपुत्र से उनकी धातु प्राप्त करने का प्रयास किया। किन्तु आर्य मौद्गलीपुत्र ने उन्हें धातु देने से इन्कार कर दिया। तत्पश्चात् गृहपति अनाथपिण्डद भगवान् बुद्ध के पास गये और उन्होंने शारिपुत्र की धातु के लिए निवेदन किया कि वे उस धातु की पूजा करने की इच्छा करते हैं। इस पर भगवान् ने आर्य मौद्गलीपुत्र से गृहपति अनाथपिण्डद को शारिपुत्र की धातु लेने की आज्ञा प्रदान की। आर्य मौद्गलीपुत्र से धातु प्राप्त कर गृहपति अनाथपिण्डद उसे अपने घर ले गये और समस्त परिवार एवं बन्धुओं के साथ मिलकर विशिष्ट पूजा अर्पित की। इस बात की सूचना जब कौशलनरेश प्रसेनजित् को प्राप्त हुई तो वह रानी के साथ विविध पूजासामग्री लेकर गृहपति अनाथपिण्डद के घर पहुँचे। दुर्भाग्यवश किसी आवश्यक कार्य के कारण गृहपति अनाथपिण्डद उस समय सपरिवार कहीं अन्यत्र गये हुए थे, जिसके कारण कौशलनरेश प्रसेनजित् को पूजासामग्री अर्पित करने का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। इस कारण कौशलनरेश ने गृहपति अनाथपिण्डद के प्रति अप्रसन्नता व्यक्त की और इस बात को भगवान् तक पहुँचाया।

गृहपति अनाथपिण्डद जब पुनः अपने घर लौटे और उन्हें इस बात की जानकारी हुई तो वह भगवान् के समीप गये और उनसे निवेदन किया कि मेरी अनुपस्थिति में कौशलनरेश शारिपुत्र की धातु की पूजा हेतु पधारे थे, किन्तु मेरी अनुपस्थिति के कारण उन्हें खाली हाथ लौटना पड़ा। मैं बहुत लज्जित हूँ। अतः मैं इस धातु पर एक प्रतीक बनवाना चाहता हूँ, जिससे सभी लोग पूजा-अर्पण कर सकें। किन्तु प्रतीक किस प्रकार का बनवाया जाए, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। अतः आप ही कोई उपाय बताएं। तब भगवान् ने चैत्यनिर्माण के लिए इस प्रकार कहा—सर्वप्रथम भूमि पर आधारशिला बनाई जाए। उसके ऊपर क्रमशः बड़े से छोटे आकार क्रम में चार वेदिकाएं बनवाएं। एक बृहत् कुम्भ रखने के लिए आसन बनाएं और उस पर एक कुम्भ का निर्माण करें। उसके ऊपर द्रोणाकार पात्र बनाएं। उसके ऊपर यष्टि बनाकर उसमें एक से तेरह तक छत्रचक्र का निर्माण करें। उसके ऊपर (वर्षा से रक्षा के लिए) वर्षाशाली का निर्माण करें।

गृहपति अनाथपिण्डद यह नहीं समझ सके कि भगवान् ने जो चैत्यनिर्माण की देशना की, वह बुद्धों के लिए है अथवा सभी आर्यजनों के लिए। इस पर भिक्षुओं ने भगवान् से इसके बारे में पूछा। तब भगवान् ने कहा—हे गृहपति, तथागत का चैत्य तो इन सबसे पूर्ण होना चाहिए। लेकिन प्रत्येक बुद्धों के चैत्य में वर्षाशाली का निर्माण नहीं करना चाहिए। अर्हतों के चैत्य में चार छत्रचक्र, अनागामी के लिए तीन छत्रचक्र, सकृदागामी के लिए दो छत्रचक्र तथा स्रोत-आपन्न के लिए एक छत्रचक्र बनाया जाए। पृथग्जनों के लिए छत्रचक्र एवं वर्षाशाली रहित गोलाकार चैत्य का निर्माण करना चाहिए। कालान्तर में गृहपति अनाथपिण्डद ने शारिपुत्र की धातु पर चैत्य का निर्माण किया और भगवान् से उसके पूजनोत्सव के लिए निवेदन किया। भगवान् ने इसकी अनुमति दी। इसकी सूचना कौशलनरेश प्रसेनजित् को भी दी गई। फलस्वरूप उन्होंने ऐसा विचार किया—अहो! मुझे भी इसमें सहायता करनी चाहिए। तब उन्होंने अपनी प्रजा को भी बिना किसी प्रतिबन्ध के उत्सव में भाग लेने की सूचना प्रसारित की। साथ ही, उन्होंने व्यापार एवं मार्ग शुल्क एवं नावों के लिए कर (महसूल) की छूट प्रदान कर दी। राजा स्वयं प्रजा के साथ पूजास्थल पर उपस्थित हुए और भदन्त शारिपुत्र के चैत्य पूजा के उत्सव को धूमधाम से मनाया¹। तब से बौद्ध परम्परा में चैत्य निर्माण की परम्परा प्रारम्भ हुई।

1. तो० 6, सूत्रवर्ग विनय 'थ' 244 ख³

चैत्य एवं अष्ट महाचैत्यों के स्वरूप का परिचय

अत्यन्त करुणावान् तथागत शाक्यमुनि ने अनेक सूत्र एवं तन्त्रों के उपदेशों में चैत्य के सन्दर्भ में जितने भी प्रभेद कहे हैं, उन सभी को संग्रह करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि चैत्य के प्रभेदों में—श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध, आर्यबोधिसत्त्व एवं तथागत के अवशेष धातु के चैत्य; अवशेष मात्र के चैत्य, धर्मकाय के चैत्य एवं केश, नख आदि के चैत्य हैं। इन सभी का संग्रह करने पर चैत्य दो प्रकार में अन्तर्भूत हो जाते हैं, यथा—(1) अवशेष-चैत्य एवं (2) धर्मकाय-चैत्य।

धर्मकाय चैत्य का रूप तथागत ने अनाथपिण्डद को जिस प्रकार के चैत्य का स्वरूप कहा है, वही धर्मकाय चैत्य है, अर्थात् जिसमें आधारभूत ढाँचे पर चार वेदिकाएं, उसके ऊपर क्रमशः कुम्भाधार, कुम्भ, द्रोण, यष्टि तथा तेरह छत्रचक्र एवं वर्षाशाली है, उसे धर्मकाय चैत्य का आकार कहते हैं।

भोट-परम्परा में आधारभूत ढाँचा पद्मपत्रयुक्त स्वरूप वाला होता है, जो दश-कुशलकर्मों का प्रतीक है। चार वेदिकाओं में से पहली वेदिका चार स्मृत्युपस्थानों का प्रतीक है, दूसरी चार सम्यक्प्रहाणों का प्रतीक है, तीसरी वेदिका चार ऋद्धिपादों का प्रतीक है तथा चतुर्थ वेदिका पाँच इन्द्रियों का प्रतीक है। कुम्भाधार पाँच बलों का प्रतीक है। कुम्भ सात बोध्यंगों का प्रतीक है। द्रोण आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का प्रतीक है। यष्टि दश ज्ञान का प्रतीक है। तेरह छत्रचक्रों में से प्रथम दस चक्र तथागत के दश बल के प्रतीक हैं। अवशिष्ट तीन छत्रचक्र तीन आवेणिक स्मृत्युपस्थानों के प्रतीक हैं। वर्षाशाली महाकरुणा की प्रतीक है। ऐसा प्रतिपादन किया गया है। इसमें तथागत के धर्मकाय के सभी स्वरूपों का संग्रह हो जाने के कारण धर्मकाय चैत्य का स्वरूप हो जाता है।

इसके अतिरिक्त जैसे स्तम्भ, सीढ़ी, मकराकृति ध्वज, पुष्पमाला, लोकपाल, घण्टा, छत्र, चन्द्रमा, वस्त्रमुकुट एवं पताका इत्यादि तथागत के गुणों के स्वरूप होने से पूज्य वस्तुएं हैं, इन सबके अपने-अपने प्रतीक होते हैं, जैसे क्रमशः 1. स्तम्भ चार वैशारद्यों का प्रतीक है, 2. सीढ़ी चार अरक्ष्यों की प्रतीक है, 3. मकराकृति ध्वज चार मारों का प्रतीक है, 4. पुष्पमाला अनुत्तरशीलस्कन्ध का प्रतीक है, 5. लोकपाल चार-आर्यसत्त्यों के प्रतीक हैं, 6. घण्टा ब्रह्मस्वर का प्रतीक है, 7. छत्र समस्त सत्त्वों के शीर्ष का प्रतीक है, 8. चन्द्रमा अनुत्तरज्ञानलोक का प्रतीक है, 9. वस्त्रमुकुट अनुत्तरसम्यक्सम्बोधि का प्रतीक है तथा 10. पताका अनुत्तर धर्म की कीर्ति का प्रतीक है। जिनों अर्थात् तथागतों ने

धर्मचक्रप्रवर्तन की कीर्ति से लोकमण्डल का पराभव किया है। इन सब प्रतीकों का यहाँ चैत्यविभङ्गविनयोद्धृतसूत्र को आधार बनाकर प्रतिपादन किया है। अवशेष चैत्य के सम्बन्ध में कोई विशेष माप एवं आकार प्राप्त नहीं होता है। सम्भवतः तथागत एवं आर्य जनों के धातुओं पर निर्मित स्तूप ही अवशेष चैत्य हैं।

अष्ट चैत्यों का माप

भोट-बौद्ध परम्परा में अष्ट चैत्यों की लम्बाई के माप में कोई मतभेद नहीं है, किन्तु चौड़ाई आदि के माप में महाविद्वान् बुदोन् और देसि संगे ग्याछो के बीच कुछ असमानताएं हैं, जैसे बुदोन् का कहना है कि आधारभूत शिला की चौड़ाई में 32 लघुमाप होना और संगे ग्याछो के मतानुसार 39 लघुमाप होना माना जाता है। उसी प्रकार कुम्भ के आकार एवं 13 छत्रचक्रों के माप में भी कुछ अन्तर है। इसके सन्दर्भ में यदि जिज्ञासु विस्तृत जानकारी प्राप्त करना चाहें तो इन दोनों आचार्यों के अपने-अपने 'अष्टचैत्य माप विधि' नामक ग्रन्थ को देख सकते हैं तथा श्री पेमा दोर्जे द्वारा रचित *Stupa and its Technology* ग्रन्थ का भी अवलोकन कर सकते हैं।

भोट मतानुसार अष्टचैत्यों की आकृति

भोट-परम्परा के अनुसार तथागत के अष्टचैत्यों की आकृति की जानकारी के लिए निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना चाहिए। जैसे—सर्वप्रथम आधारभूत शिला के पद्मासन पर मूल चैत्य को स्थापित करने के लिए वैश्रवण के भण्डार के रूप में एक आसन का निर्माण करना चाहिए।

(1) **पद्मकटक चैत्य**—इस चैत्य के आकार में चारों वेदिकाएं परिमण्डल एवं चारों वेदिकाओं में पद्म का आकार होना चाहिए। इससे तथागत के जन्मस्थान का संकेत उपलक्षित होता है।

(2) **बोधिचैत्य**—इसका आकार चार वेदिकाओं के बड़े से छोटे क्रम के रूप में चतुरस्र होना चाहिए। इससे तथागत के अभिसमय अर्थात् सम्बोधि का संकेत प्राप्त होता है।

(3) **धर्मचक्रप्रवर्तन अथवा अनेक मंगलद्वार चैत्य**—इसका आकार पूर्व की भाँति है, किन्तु चारों वेदिकाओं के तीन अंश उभरे हुए होने चाहिए। इससे धर्मचक्रप्रवर्तन संकेतित होता है।

(4) **देवलोकावतरण चैत्य**—इसका आकार पूर्व की भाँति है, किन्तु चारों वेदिकाओं में प्रत्येक के तीसरे अंश के मध्य में उभरे स्थान के ऊपर क्रमशः तीन सीढ़ी का निर्माण करना चाहिए। इससे तथागत शाक्यमुनि के त्रायस्त्रिंश लोक से अवतरण का संकेत प्राप्त होता है।

(5) **ऋद्धिबल चैत्य**—इसका आकार अधिकतर पूर्व की भाँति है, परन्तु उसमें सीढ़ी का निर्माण नहीं किया जाता। इससे ऋद्धिबल का संकेत प्राप्त होता है।

(6) **संघसमग्रता चैत्य**—इसका आकार चारों वेदिकाओं के कोण काटकर उनके चारों मुख समान होने चाहिए। इससे यह संकेतित होता है कि देवदत्त ने संघभेद नामक आनन्तर्य कर्म किया था, इससे संघ की जो समग्रता नष्ट हुई थी उसकी समग्रता सम्पन्न हुई।

(7) **आयुर्वर्धन चैत्य अथवा आयुरधिष्ठित चैत्य**—इसके आकार को चारों वेदिकाओं को तीन में संयुक्त कर दश कुशलों के साथ परिमण्डलाकार रूप में बनाना चाहिए। इससे आयुर्वर्धन का संकेत प्राप्त होता है।

(8) **महापरिनिर्वाणचैत्य**—इस चैत्य में चारों वेदिकाओं का निर्माण नहीं होता। दश कुशलों के ऊपर आधारशिला पर कुम्भाकार ढाँचा बनाना है। शेष पूर्व की भाँति है। इससे महापरिनिर्वाण संकेतित होता है।

यह सभी आर्यावर्त भारतवर्ष में प्रसिद्ध अष्ट महाचैत्यों का परिचय है। परन्तु इनके साधारण माप और मूल आकार में उतना अन्तर नहीं है, फिर भी छोटे-मोटे कुछ अन्तर दिखलाई पड़ते हैं।

तन्त्रशास्त्र क्रियासमुच्चय ग्रन्थ में चैत्य के आकार चार प्रकार के कहे गये हैं, यथा—(1) धान्यकटक सदृश चैत्य, (2) पात्र (खक्खर) सदृश चैत्य, (3) कुम्भसदृश चैत्य तथा (4) ध्वजसदृश चैत्य।

(1) **धान्यकटक सदृश चैत्य**—धान्यकटक सदृश चैत्य अमरावती नामक स्थान में विद्यमान था, जहाँ पर भगवान् तथागत ने उत्तरकुरु के धर्मराज सुचन्द्र को कालचक्र का अभिषेक प्रदान किया था। कालान्तर में वहाँ पर उस (अभिषेक) की स्मृति में धान्यकटक नामक एक महाचैत्य का निर्माण किया गया। उस चैत्य का स्वरूप यथावत् धान्यकटक (धान्यराशि) के समान होने से उसे धान्यकटक चैत्य कहा गया। सम्प्रति उस स्थान पर यह चैत्य भग्नावस्था में है, किन्तु उसका स्वरूप बाद में पुरातत्त्वविदों ने यथावत् बनाकर वहाँ

स्थित पुरातत्त्वसंग्रहालय में छोटे आकार में रखा हुआ है। उस चैत्य से तथागत की धातु भी प्राप्त हुई है। उसका दर्शन आजकल भी उस संग्रहालय में किया जा सकता है।

(2) पात्र (खम्बर) सदृश चैत्य—सम्भवतः इस चैत्य का आकार विदिशा के नजदीक सांची में देखा जा सकता है। इसका निर्माण राजा अशोक ने अपनी बौद्ध पत्नी विदिशा की इच्छानुसार कलात्मक रूप में शिल्पियों द्वारा कराया था। इस चैत्य का आकार यथावत् भिक्षापात्र के समान होने से इसे पात्रसदृश चैत्य कहा गया है।

(3) कुम्भसदृश चैत्य—बौद्ध तन्त्रवर्ग के अन्तर्गत कालचक्रतन्त्र के अनुसार कालचक्र चैत्य का स्वरूप लगभग कुम्भसदृश होने के कारण सम्भवतः इसे कुम्भसदृश चैत्य कहते हैं।

(4) ध्वजसदृश चैत्य—भारतवर्ष के महाविद्वान् आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान से प्रवर्तित परम्परा में तिब्बत में 'कादम्पा परम्परा' उद्धृत हुई। उनके द्वारा निर्मित चैत्यों का आकार सम्भवतः ध्वजसदृश होने के कारण उन्हें ध्वजसदृश चैत्य कहते हैं।

सम्प्रति आर्यावर्त भारतवर्ष में इन सभी चैत्यों के स्वरूप अधिकतर लुप्त हो चुके हैं, फिर भी कुछ चैत्यों का स्वरूप बौद्ध तीर्थस्थानों में विद्यमान है। अधिकतर बौद्ध विहार एवं चैत्यों का विनाश यवनशासन के काल में हो गया था। इस समय उन सभी चैत्य एवं खण्डहरों पर भारतवासियों में श्रद्धापूर्वक पूजा-अर्चना करनेवाले अत्यल्प हैं। किन्तु सौभाग्य से चैत्य एवं उसकी निर्माण-विधि की परम्परा सम्पूर्ण रूप से भोट देश में पूर्व भारतीय आचार्यों एवं तिब्बत के लोचावाओं के अथक प्रयास के फलस्वरूप प्रचलित है। आजकल भी इन चैत्यों का यदि निर्माण करना चाहें तो पूर्ण विधिविधान के अनुसार यथावत् निर्माण किया जा सकता है।

भोटवासियों ने जब आर्यावर्त से प्राचीन बौद्ध धर्म एवं संस्कृति को ग्रहण किया तो उसे (धर्म एवं संस्कृति को) विधि-विधान सहित सम्पूर्ण रूप से न केवल प्राप्त किया, अपितु उसे अपने जीवन में भी उतारने का प्रयास किया तथा उसमें बिना किसी छेड़छाड़ के प्रयोग में लाकर ठीक तरह से उसका संरक्षण किया।

सम्प्रति भोटवासियों के पास अमूल्य प्राचीन भारतीय परम्परा अवशिष्ट है। उसे यदि भारतवासियों द्वारा शीघ्र प्राप्त नहीं किया गया तो उसके भी लुप्त हो जाने की सम्भावना है। अतः शीघ्रातिशीघ्र भारतवासियों द्वारा उस अमूल्य परम्परा को पुनः प्राप्त कर लेना चाहिए। अन्यथा वह दिन दूर नहीं, जब तिब्बतवासियों में भी वह लुप्त हो जाएगी और सभी लोग अन्त में पश्चात्ताप करने के अतिरिक्त कुछ न कर सकेंगे।

अष्ट चैत्य स्थानों का परिचय

भगवान् बुद्ध ने कर्मान्तर्भाषित सूत्र में कहा है कि “निर्माणकाय की पूर्व लीलाओं के प्रदर्शन के प्रतीक आठ अस्थिस्तूप स्थापित करने हैं।” अर्थात् महामुनि तथागत ने कुछ विशिष्ट स्थानों में कुछ प्रमुख लीलाएं की हैं, उन सभी पवित्र स्थानों में श्रद्धावान् आदिकर्मिक अनुयायियों ने पूजा के आधार के प्रतीक चैत्यों का निर्माण करके उनको नमस्कार (प्रणाम) एवं पूजा के उत्सव की परम्परा जब से प्रारम्भ हुई तब से स्तूप (चैत्य) यह नाम प्रसिद्ध हुआ—ऐसा प्रतीत होता है। आठ विशिष्ट पवित्र स्थान हैं, यथा— (1) कपिलवस्तु, (2) बोधगया, (3) वाराणसी, (4) श्रावस्ती, (5) संकिस्सा, (6) राजगृह, (7) वैशाली एवं (8) कुशीनगर।

(1) **कपिलवस्तु**—यहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था। उसी के नजदीक लुम्बिनी वन में उस नगर के श्रद्धालुओं ने ‘पद्मकटक’ नामक एक चैत्य का निर्माण उसके स्मरणार्थ किया था।

(2) **बोधगया**—यहाँ बोधिसत्त्व ने सम्यक्संबुद्धत्व प्राप्त किया था, इस घटना के स्मरणार्थ यहाँ के श्रद्धालुओं ने ‘बोधिचैत्य’ नामक एक चैत्य का निर्माण किया था।

(3) **वाराणसी**—यहाँ बुद्ध ने प्रथम बार चार आर्यसत्यविषयक धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। इस घटना के स्मरणार्थ यहाँ के श्रद्धालुओं ने एक ‘धर्मचक्रप्रवर्तन चैत्य’ का निर्माण किया था।

(4) **श्रावस्ती**—यहाँ बुद्ध ने छह तैर्थिक शास्ताओं का ऋद्धिबल से पराभव किया था। इस घटना के स्मरणार्थ यहाँ के श्रद्धालुओं ने एक ‘प्रातिहार्य चैत्य’ का निर्माण किया था।

(5) **संकिस्सा**—यहाँ से बुद्ध त्रायस्त्रिंश लोक में अपनी माता महामाया देवी को धर्मदेशना के लिए गये थे तथा धर्मदेशना करने के अनन्तर पुनः वहाँ अवतरित हुए थे। इस घटना के स्मरणार्थ यहाँ के श्रद्धालुओं ने एक ‘देवलोकावतरण चैत्य’ का निर्माण किया था।

(6) **राजगृह**—यहाँ पर देवदत्त ने संघभेद नामक आनन्तर्य कर्म किया था। बाद में यहाँ शारिपुत्र और मौद्गलीपुत्र ने संघसमग्रता की स्थापना की थी। इस घटना के स्मरणार्थ यहाँ के श्रद्धालुओं ने ‘संघसमग्रता चैत्य’ का निर्माण किया था।

(7) वैशाली—यहाँ बुद्ध ने कायत्याग के पूर्व तीन माह का अधिष्ठान किया था। इस घटना के स्मरणार्थ यहाँ के श्रद्धालुओं ने 'आयुःसंस्कारविसर्जन-अधिष्ठान चैत्य' का निर्माण किया था।

(8) कुशीनगर—यहाँ बुद्ध ने महानिर्वाण प्राप्त किया था। इस घटना के स्मरणार्थ यहाँ के श्रद्धालुओं ने 'महापरिनिर्वाण चैत्य' का निर्माण किया था।

ये सभी आठ चैत्य अष्ट महाचैत्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सभी चैत्यों में बुद्ध के अस्थि-अवशेषों को उनके अनुयायियों ने बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद 8 भागों में विभाजित कर उनको गर्भ में रखकर आठ चैत्यों का निर्माण किया। कालान्तर में धर्मराट् अशोक इत्यादि धर्मराजाओं ने आर्यावर्त (भारतवर्ष) में बुद्धशासन की चिरस्थिति के लिए लाखों चैत्यों का निर्माण किया—ऐसा बौद्ध ग्रन्थों में तथा पुरातत्त्वविदों ने वर्णन किया है।

स्तूप एवं चैत्य में अन्तर

आर्यावर्त में स्तूप का निर्वाण बौद्धधर्म की स्थापना से पूर्व प्रचलित था। किन्तु सम्भवतः आकार में समानता नहीं थी। वैदिक साहित्य में 'स्तूप' शब्द का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता, वाजसनेयी संहिता एवं शतपथब्राह्मण में स्तूप शब्द का उल्लेख मिलता है। इन ग्रन्थों में स्तूप शब्द का अर्थ कुछ भिन्न अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, जैसे किसी में केशोर्ध्व को स्तूप कहा गया है। कहीं पर शिरस् के अग्रभाग के लिए स्तूप शब्द आता है, जिसका अर्थ उच्च स्थल के लिए प्रयुक्त है। जो सम्भवतः स्तूप शब्द के समानार्थक है। इस प्रकार बौद्ध स्तूप एवं वैदिक स्तूप दोनों का विषय या अर्थ एक समान लगता है।

पालि साहित्य में 'थूप' शब्द का अर्थ स्तूप ही है। 'थूप' का अर्थ उठी हुई वस्तु अथवा उच्च निर्मित स्थल है। विनयपिटक में 'थूपितं' शब्द का प्रयोग आता है, जिसका प्रयोग किसी पिण्डपात्र में अत्यधिक भोजन से शिखराकार भरे हुए के अर्थ में होता है। 'थूप' शब्द से थूपित का निर्माण होता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि 'स्तु' धातु अर्थात् स्तुति से 'थूप' शब्द का सम्बन्ध है और उससे स्तूप शब्द का उद्भव हुआ है। अमरकोश में मिट्टी आदि के दूह को स्तूप कहा गया है। अतः सामान्यतया स्तूप अथवा थूप शब्द का अभिप्राय गोल आकार वाले मिट्टी के टीले अथवा ईंट, पत्थर एवं धातु से निर्मित उच्च आकार वाली वस्तु के अर्थ में है। आजकल भी हिन्दीभाषी लोग जो थोपना शब्द का प्रयोग करते हैं, वह वस्तुतः थूप शब्द से निर्गत है, जिसका अभिप्राय ऊँचे उठे हुए के अर्थ में होता है।

पालि बौद्ध ग्रन्थों में 'थूप' शब्द का प्रयोग गुम्बज के आकार के अर्थ में उच्च स्थान के लिए किया गया है। किसी विशिष्ट व्यक्ति अथवा महापुरुष की स्मृति में स्थापित प्रतीक को 'थूप' कहा जाता है। पालि बौद्ध ग्रन्थों के अन्तर्गत दीघनिकाय के महापरिनिब्बान सुत्त में 'थूप' के निर्माण का जो उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है, यथा—“भगवान् बुद्ध ने आनन्द से कहा—हे आनन्द, चार ऐसे विशिष्ट व्यक्ति होते हैं, जिनके अस्थि-अवशेषों पर 'थूप' का निर्माण होना चाहिए। ये चार कौन हैं? तथागत ने कहा—(1) तथागत सम्यक्सम्बुद्ध, (2) प्रत्येकबुद्ध, (3) तथागत श्रावक एवं (4) चक्रवर्ती धार्मिक धर्मराज। आनन्द ने फिर पूछा—अस्थि-अवशेषों पर 'थूप' के निर्माण का क्या प्रयोजन है? भगवान् ने कहा—हे आनन्द, ये (थूप) तो बहुजन के मन में श्रद्धा, प्रसाद उत्पन्न करते हैं तथा इस पुण्य के बल से वे स्वर्ग का लाभ भी कर सकते हैं, अतः 'थूप' का निर्माण करना अत्यन्त आवश्यक है।”

चैत्य शब्द 'चि' धातु से ण्यत् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। इसका अर्थ स्मारक, समाधि-प्रस्तर, पूज्य स्थान अथवा बुद्ध एवं अर्हत्तों की मूर्ति को स्थापित किये जाने का प्रतीक है। चैत्य का आकार एवं उसकी स्थापना के विषय में पहले विस्तार से निरूपण किया जा चुका है।

वैसे स्तूप एवं चैत्य दोनों पूजा के प्रतीक हैं, किन्तु दोनों के आकार में कुछ भिन्नता दिखलाई पड़ती है। दोनों में धातु भी प्रतिष्ठापित की जा सकती है। भोट भाषा में स्तूप एवं चैत्य दोनों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो 'छोद्तेन' के नाम से प्रसिद्ध है। वैसे भोट भाषा में छोद्तेन एवं दुड्तेन दो पृथक् शब्द प्रचलित हैं, लेकिन अधिकांशतया भोट लोग ऐसा मानते हैं कि छोद्तेन (चैत्य) में सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्म विद्यमान होते हैं, अतः उसे छोस्तेन (छोद्तेन) कहते हैं। किसी विशिष्ट व्यक्ति के अवशेष को स्थापित कर उसकी स्मृति के लिए निर्मित प्रतीक को दुड्तेन कहते हैं। इसका आकार अष्ट महाचैत्यों के स्वरूपों में से कोई भी एक स्वरूप हो सकता है। भोट देश में जब भी कोई किसी चैत्य का निर्माण करता है तो उसका स्वरूप अष्ट महाचैत्यों में से किसी एक का होता है। वह चाहे किसी की स्मृति के लिए हो अथवा विशिष्ट व्यक्ति के अवशेष पर निर्मित हो, उसका स्वरूप अष्ट महाचैत्यों में एक का होता है। इसे 'स्तूप' भी कहते हैं। भोट देश में स्तूप के लिए अलग (पृथक्) आकार एवं चैत्य के लिए पृथक् आकार दिखलाई नहीं देता। दोनों का स्वरूप एक-जैसा ही माना जाता है।

आर्यावर्त भारत देश में स्तूप एवं चैत्य नाम अलग-अलग होने से उनके आकार भी भिन्न-भिन्न प्रस्तुत किये जाते हैं। जहाँ तक मेरा अपना विचार है, वह ऐसा है कि चैत्य में बुद्ध के द्वारा निर्दिष्ट सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों का विद्यमान होना अनिवार्य है और स्तूप में ऐसा होना अनिवार्य नहीं है। किसी भारतीय विद्वान् का मानना है कि चैत्य के छाया अथवा वर्षाशाली के भीतर स्थापित प्रतीक चैत्य कहलाता है और स्तूप के लिए ऐसा (छाया या वर्षाशाली) होना अनिवार्य नहीं माना गया है। लेकिन मैं समझता हूँ कि चैत्य के लिए छाया या वर्षाशाली होना जरूरी नहीं है, क्योंकि ऐसे अनेक चैत्य धर्मराज अशोक ने बनवाये हैं, जिनमें छाया की विद्यमानता नहीं है। स्तूप के लिए सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों का स्वरूप होना आवश्यक नहीं है। वह मात्र गोलाकार होता है, जो आजकल साँची, सारनाथ, कुशीनगर और अमरावती के निकट धान्यकटक आदि स्थानों में देखे जा सकते हैं।

आधार ग्रन्थ सूची

1. विनयक्षुद्रकवस्तु। (तो० 6)
2. विनयोत्तरग्रन्थ। (तो० 7)
3. समन्तमुखप्रवेशरश्मिविमलोष्णीषप्रभाससर्वतथागतहृदयसमयविलोकितनामधारणी-वृत्तिः। (तो० 2688)
4. आर्यसमन्तमुखप्रवेशरश्मिविमलोष्णीषप्रभासधारणीवचनसूत्रान्तोद्धृत-अष्टोत्तरशत-चैत्यान्तरपञ्चचैत्यनिर्माणविधिः। (तो० 3069)
5. चैत्यनिर्माणविधिः। (तो० 3076)
6. चैत्यविभागविनयोद्धृतसूत्रम्। (तो० 3078)
7. अष्टमहास्थानचैत्यस्तोत्रम्। (तो० 1134) - (नागार्जुन)
8. अष्टमहास्थानचैत्यवन्दनास्तवः। (तो० 1168) - (श्रीहर्षदेव)
9. ལུ་ཁྱུ་ཆེན་པོའི་མཆོད་རྟེན་གྱི་ཆོད། ལུ་སྟོན་རིན་ཆེན་གྱུ་བ། - བོད། 'པ'
10. བེ་རུ་ཅུ་དཀར་པོ། རྩེ་སྤྲིད་སངས་རྒྱས་རྒྱ་མཆོ། - བོད། 'པ'

दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री

—ठाकुरसेन नेगी—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत 'धी:' के 34वें अंक में 44 महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित अवदान ग्रन्थों की सूचना दी गई थी। प्रस्तुत अंक में उससे अन्य 70 हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना दी जा रही है।]

ABBREVIATIONS

ASB	Sanskrit Manuscripts in the Government Collection, ed. by H.P. Shastri, Asiatic Society of Bengal, 1917.
ASHA	Asha Archives, Maitidevi, Kathmandu, Nepal.
BODLEIAN	Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Bodleian Library, Vol.II, 1905.
CAMBRIDGE	Catalogue of the Buddhist Manuscripts in the University Library, Cambridge, ed. by Cecil Bendall, Cambridge, 1883.
COMP./INCOMP.	Complete/Incomplete.
D-2	A Catalogue of Palm-Leaf and Selected Paper Manuscripts belonging to the Darbar Library, Nepal, ed. by H.P. Shastri, Calcutta, 1915.
DEV.	Devanāgarī.
IASWR	Buddhist Sanskrit Manuscripts, Micro-Fische Collection belonging to the Institute for Advance Studies of World Religions, New York.
IOL	Catalogue of the Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Library of India Office, Vol. II.
JBORS	The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna.
MCBMBLJ	A Microfilm Catalogue of the Buddhist Manuscripts in Nepal, ed. by H. Takaoka, Buddhist Library, Japan, 1981.
N	Newārī script.
NP/PL	Nepali Paper/Palm Leaf.
NEPAL-II	Catalogue of Darbar Library, Nepal, Vol.II.
PETROGRAD	Catalogue of Indian Manuscripts, Collection of E.P. Minaev and Some friends, compiler N.D. Mironoff, Published by the Russian Academy of Sciences, Petrograd, 1918.
RAK	Rāṣṭriya Abhilekhālaya, Kathmandu, Nepal.
RAS	Catalogue of Buddhist Sanskrit Manuscripts in the Possession of the Royal Asiatic Society, (Hodgson Collection) London.
SMTUL	A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Tokyo University Library, Tokyo, Japan, 1965.

आर्यावर्त भारत देश में स्तूप एवं चैत्य नाम अलग-अलग होने से उनके आकार भी भिन्न-भिन्न प्रस्तुत किये जाते हैं। जहाँ तक मेरा अपना विचार है, वह ऐसा है कि चैत्य में बुद्ध के द्वारा निर्दिष्ट सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों का विद्यमान होना अनिवार्य है और स्तूप में ऐसा होना अनिवार्य नहीं है। किसी भारतीय विद्वान् का मानना है कि चैत्य के छाया अथवा वर्षाशाली के भीतर स्थापित प्रतीक चैत्य कहलाता है और स्तूप के लिए ऐसा (छाया या वर्षाशाली) होना अनिवार्य नहीं माना गया है। लेकिन मैं समझता हूँ कि चैत्य के लिए छाया या वर्षाशाली होना जरूरी नहीं है, क्योंकि ऐसे अनेक चैत्य धर्मराज अशोक ने बनवाये हैं, जिनमें छाया की विद्यमानता नहीं है। स्तूप के लिए सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों का स्वरूप होना आवश्यक नहीं है। वह मात्र गोलाकार होता है, जो आजकल साँची, सारनाथ, कुशीनगर और अमरावती के निकट धान्यकटक आदि स्थानों में देखे जा सकते हैं।

आधार ग्रन्थ सूची

1. विनयक्षुद्रकवस्तु। (तो० 6)
2. विनयोत्तरग्रन्थ। (तो० 7)
3. समन्तमुखप्रवेशरश्मिविमलोष्णीषप्रभाससर्वतथागतहृदयसमयविलोकितनामधारणी-वृत्तिः। (तो० 2688)
4. आर्यसमन्तमुखप्रवेशरश्मिविमलोष्णीषप्रभासधारणीवचनसूत्रान्तोद्धृत-अष्टोत्तरशत-चैत्यान्तरपञ्चचैत्यनिर्माणविधिः। (तो० 3069)
5. चैत्यनिर्माणविधिः। (तो० 3076)
6. चैत्यविभागविनयोद्धृतसूत्रम्। (तो० 3078)
7. अष्टमहास्थानचैत्यस्तोत्रम्। (तो० 1134) - (नागार्जुन)
8. अष्टमहास्थानचैत्यवन्दनास्तवः। (तो० 1168) - (श्रीहर्षदेव)
9. ལུ་ཁུ་ཆེན་པོའི་མཆོད་རྟེན་གྱི་ཆོད། ལུ་སྟོན་རིན་ཆེན་གྱུ་བ། - སོད། 'པ'
10. བེ་རུ་ཅུ་དཀར་པོ། སྟེ་སྟེན་པངས་ཀྱིས་ཀྱ་མཆོ། - སོད། 'ག'

दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री

—ठाकुरसेन नेगी—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत 'धीः' के 34वें अंक में 44 महत्वपूर्ण हस्तलिखित अवदान ग्रन्थों की सूचना दी गई थी। प्रस्तुत अंक में उससे अन्य 70 हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना दी जा रही है।]

ABBREVIATIONS

ASB	Sanskrit Manuscripts in the Government Collection, ed. by H.P. Shastri, Asiatic Society of Bengal, 1917.
ASHA	Asha Archives, Maitidevi, Kathmandu, Nepal.
BODLEIAN	Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Bodleian Library, Vol. II, 1905.
CAMBRIDGE	Catalogue of the Buddhist Manuscripts in the University Library, Cambridge, ed. by Cecil Bendall, Cambridge, 1883.
COMP./INCOMP.	Complete/Incomplete.
D-2	A Catalogue of Palm-Leaf and Selected Paper Manuscripts belonging to the Darbar Library, Nepal, ed. by H.P. Shastri, Calcutta, 1915.
DEV.	Devanāgarī.
IASWR	Buddhist Sanskrit Manuscripts, Micro-Fische Collection belonging to the Institute for Advance Studies of World Religions, New York.
IOL	Catalogue of the Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Library of India Office, Vol. II.
JBORS	The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna.
MCBMBLJ	A Microfilm Catalogue of the Buddhist Manuscripts in Nepal, ed. by H. Takaoka, Buddhist Library, Japan, 1981.
N	Newārī script.
NP/PL	Nepali Paper/Palm Leaf.
NEPAL-II	Catalogue of Darbar Library, Nepal, Vol. II.
PETROGRAD	Catalogue of Indian Manuscripts, Collection of E.P. Minaev and Some friends, compiler N.D. Mironoff, Published by the Russian Academy of Sciences, Petrograd, 1918.
RAK	Rāṣṭriya Abhilekhālaya, Kathmandu, Nepal.
RAS	Catalogue of Buddhist Sanskrit Manuscripts in the Possession of the Royal Asiatic Society, (Hodgson Collection) London.
SMTUL	A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Tokyo University Library, Tokyo, Japan, 1965.

Title	Author	Institution	Ms. No.
अधिवासनविधि Adhivāsanavidhi		RAK	65
अन्नप्राशनविधि Annaprāśanavidhi		IASWR ASHA	MBB-II-289 NRI-I
अपरिमितायुमहायानसूत्र Aparimitāyumahāyānasūtra		IASWR " RAK " ASB " "	MBB-II-197 WGS.8 Reel No.E.378/1 3/589 38 39 40
अभिसंबोधिक्रम Abhisambodhikrama	आर्यदेव Āryadeva	JBORS	XVII.2-256
अमृतीकरण Amṛtikaraṇa		RAK	3/597, Reel No.B.103/12
अमोघपाशनामहृदयसूत्र Amoghapāśanāmahṛdayasūtra		" "	4/1383, Reel No.B.103/6 3/589
आत्मतत्त्वजातिविचार Ātmatattvajātivicāra		"	4/1597

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	N	200	Comp.	
NP	"	10	Incomp.	
"	"	25	"	
"	"	33		
"	"	14		
"	"	165		
"	"	(131 ^b -137 ^a)	"	
"	"	12	Comp.	
"	"	6	Incomp.	
"	"	25	Comp.	
"	Māgadhi	2	"	
"	Dev.	89	"	
"	N	44	"	
"	"	(48 ^a -53 ^b)	"	
"	Dev.	12	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
उग्रतारा Ugratārā		RAK	Reel No.E.530/11
उत्पातलक्षण-शुभाशुभपरीक्षण Utpātalakṣaṇa-Śubhāśubhaparīkṣaṇa		IASWR	MBB-I-127
उपयोगक्रम (शब्दबोध) Upayogakrama (Śabdabodha)		ASB	8062/36
एकल्लवीरतन्त्रोद्धृत-वर्षापणविधि Ekallavīratantroddhṛta-Varṣāpaṇavidhi		RAK	Reel No.A.921/6
एकाक्षरकल्पकतिपयप्रयोग Ekākṣarakalpakatipayaprayoga		CAMBRIDGE	Add.1648
करुणामयस्तोत्र Karunāmayastotra		RAK	4/1041
कालज्ञान Kālajñāna		IASWR	MBB-II-287

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	Dev.	19	Comp.	
"	N	6		
"	"	48		
"	"	(82 ^b -84 ^b)	"	
Paper	"	(58 ^a -59 ^b)	"	
NP	"	Folding Book		
"	"	5		

Title	Author	Institution	Ms. No.
काश्यपमाहात्म्य Kāśyapamāhātmya		IASWR	MBB-II-137
किञ्चिद्बौद्धतन्त्र Kiñcitabauddhatantra		RAK	1/1697 $\frac{11}{7}$
		"	1/1697 $\frac{2}{20}$
		"	Reel No.E.365/3
		"	1/1697 $\frac{2}{29}$
		"	Reel No.E.652/9
कुरुकुल्लाकल्पोक्तवर्षापणविधि Kurukullākālpoktavārṣāṇavidhi		"	Reel No.A.921/6
खदिरवतीतारासाधन Khadiravatītārāsādhana		CAMBRIDGE	Add.1648
ग्रहलग्न Grahālagna		IASWR	MBB-II-193
		RAK	Reel No.E.365/6
गोशृङ्गपर्वतमाहात्म्य Goṣṛiṅgaparvatamāhātmya		IASWR	MBB-II-235
		RAK	3/589
चण्डमहारोषणस्तोत्र Caṇḍamahāroṣaṇastotra		RAK	Reel No.E.699/1

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	28	Incomp.	
"	"	16	"	
"	"	8	"	
"	"	36	"	
"	"	17	"	
"	"	98	"	
"	"	(82 ^b -84 ^b)	Comp.	
Paper	"	(62 ^a -63 ^b)	"	
NP	"	13		
"	Dev.	9		
"	N	35		
"	Dev.	(188 ^b -200 ^b)	"	
"	N	8		

Title	Author	Institution	Ms. No.
चण्डमहारोषणक्रमोदयस्तोत्र Caṇḍamahāroṣaṇakramodayastotra		RAK	3/576, Reel No.E.1243/5
चैत्यमाहात्म्य Caityamāhātmya		"	4/1154
चैत्यवर्णनगीतस्तोत्रादिसंग्रह Caityavarṇanagītastotrādisaṅgraha		"	Reel No.A.133/1
छवस्कामिनीदेवी Chvaskāminīdevī		"	" " E.1712/13
छवस्कामिनीविद्याधारणी Chvaskāminīvidyādhārāṇī		"	" " E.1712/13
(आर्य)जाङ्गुलीभगवतीकल्प Āryajāṅgulībhagavatīkalpa		CAMBRIDGE	Add.1648
जातिवादनिराकरण Jātivādanirākaraṇa	जितारिपाद Jitāripāda	IASWR RAK	MBB-II-209 Reel No.E.91/6

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	27-36	Comp.	
"	"	46	"	
"	"	20	"	
"	"	1-13	"	
"	"	14-51	Incomp.	
Paper	"	(88-98)	Comp.	
NP		5		
"		15		

Title	Author	Institution	Ms. No.
जीर्णोद्धारविधान Jiṃoddhāraavidhāna		IASWR "	MBB-II-72 MBB-II-124
डाकिनीजालसंवरतन्त्र Dākinijālasaṃvaratantra		RAK	3/366
तत्त्वसंग्रह Tattvasaṃgraha		IASWR	MBB-II-123
(आर्य)ताराकल्पोद्देश (Ārya)tārākālpoddeśa		CAMBRIDGE	Add.1648
त्रिसमयपूर्वसेवाविधि Trisamayapūrvasevāvidhi	जयप्रभ Jayaprabha	JBORS	XXXVII.8-318
दीर्घनखपरिव्राजकपरिपृच्छासूत्र Dīrghanakhaparivrajakaparipṛcchāsūtra		IASWR	MBB-II-15
(आर्य)दुर्गतिधारणीपरिसूत्र (सर्वदुर्गतिविध्वंसमहायानसूत्र) (Ārya)durgatidhāraṇīparisūtra (Sarvadurgatividhvaṃsamahāyānasūtra)		ASB	41

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	9		
"	"	34		
PL	"	11	Incomp.	
NP	"	11		
Paper	"	(77-80 ^b)		
NP	Rañjanā	1	Comp.	
PL	N	5	Incomp.	
NP	"	7(84-90)	Comp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
दोहाकोश Dohākośa		RAK	3/721
धर्मसारसमुच्चय Dharmasārasamuccaya		MCBMBLJ	CN.223
(आर्य) ध्वजाग्रकेयूरतन्त्र (Ārya) dhvajāgrakeyūratāntra		RAK "	Reel No.A.47/4 " " A.124/3
नक्षत्रफल Nakṣatraphala		IASWR	MBB-II-281
नागसमाधि Nāgasamādhi		" RAK	MBB-II-54 Reel No.A.921/6
नागहृदयपीडाकल्प Nāgahrdayapīḍākalpa		CAMBRIDGE	Add.1648
नामसङ्गीति-आम्नाय Nāmasaṅgīti-Āmnāya		"	Add.1648
पञ्चताल Pañcatāla		RAK	4/2089

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	Dev.	18	Comp.	
"	"	17	"	
PL	N	13	"	
NP	"	5		
"	"	24	"	
"	"	13		
"	Dev.	(6 ^b -20 ^a)	"	
Paper	N	(25-28)	"	
"	"	(73a-74b)	"	
NP	Rañjanā	59	Incomp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
पञ्चाभिषेक Pañcābhiṣeka		IASWR "	MBB-II-252 CSG-10
प्रतिष्ठाश्लोक Pratiṣṭhāloka		RAK	Reel No.B.26/27
प्रज्ञापारमितासाधन Prajñāpāramitāsādhana	असंग Asaṅga	CAMBRIDGE	Add.1648
बलिपूजाविधि Balipūjāvidhi		RAS	72
बलिमाला Balimālā		RAK	Reel No.E.1150/4
बुद्धकपालतन्त्र Buddhakapālatantra		CAMBRIDGE	Add.1680
बुद्धमण्डलदेवतानामावली Buddhamāṇḍaladevatānāmāvalī		RAK	1/1697 Reel No.B.24/35
भूतडामरसंक्षिप्ततन्त्रधारणी Bhūtaḍāmarasaṅkṣiptatantradhārāṇī		CAMBRIDGE	Add.1648

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	10	Comp.	
"	"	36	"	
"	"	33	"	
Paper	"	(113-116)		
"	"	40	"	
"	"	2-15	Incomp.	
"	"	4	"	Fragment
PL	"	12	Comp.	
Paper	"	(4 ^a -6 ^b)	Incomp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
भूतडामरसाधनोपायिका Bhūtaḍāmarasāadhanopāyikā		CAMBRIDGE	Add.1648
महामायातन्त्रानुसार-हेरुकसाधनोपायिका Mahāmāyātantrānusāra-Herukasāadhanopāyikā		"	Add.1648
महामायातन्त्रानुसार-बलिविधि Mahāmāyātantrānusāra-Balividhi		"	Add.1648
(आर्य)महामेघनिर्नादविजृम्भितसुरकेतुनाम (Ārya)mahāmeghanimādavijṛmbhita- suraketunāma		RAK	Reel No.A.921/6
(आर्य)महामेघनिर्नादविजृम्भितसुरकेतुनामधारणी (Ārya)mahāmeghanimādavijṛmbhita- suraketunāmadhārāṇī		"	" " A.921/6
महामेघमहामहायानसूत्रोद्धृतमण्डलपरिवर्त Mahāmeghamahāyānasūtroddhṛta- maṇḍalaparivarta		"	" " A.921/6

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	N	(200-206)	Comp.	
"	"	(181 ^a -183 ^b)	"	
"	"	(171 ^a -173 ^b)	"	
NP	Dev.	(1-13)	"	
"	"	4	"	
"	"	(4 ^b -9 ^b)	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
महासंवत्सरपरिकर्ममण्डलार्चनविधि Mahāsaṁvatsaraparikarmamaṇḍalārcanavidhi		RAK	4/22 Reel No. B.24/52
महासंवरकर्मराजविशुद्धिनामधारणी Mahāsaṁvarakarmarājaviśuddhināmadhārāṇī		CAMBRIDGE	Add.1648
मायाजालक्रम-आर्यावलोकितेश्वरसाधन Māyājālakrama-Āryāvalokiteśvarasādhana		"	Add.1648
मूलमन्त्रविधिसोपचार Mūlamantravidhisopacāra		RAK	Reel No. A.921/6
मेघसमाधिवर्षापण Meghasamādhivarṣāpaṇa		"	" " A.921/6 3/589
रत्नपरीक्षा Ratnaparīkṣā		"	5/739 4/125

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	1-13, 20-37	Comp.	
Paper	"	(1-4 ^a)	"	
"	"	(45-60)	"	
NP	"	(53 ^b -57 ^b)	"	
"	"	10-20	"	
"	Dev.	(172 ^a -176 ^b)	"	
"	N	31	"	
"	"	20	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
वज्रवैरोचनीदेवीरहस्यपूजाविधि Vajravairocanīdevīrahasyapūjāvidhi		RAK	Reel No.E.734/10
वर्षापणक्रममहाबलसाधन Varṣāpaṇakramamahābalasādhana		"	" " A.921/6
वर्षापणविधि Varṣāpaṇavidhi	अभयाकरगुप्त Abhayākaragupta	"	" " A.921/6 3/589
वश्याधिकारमञ्जुश्रीसाधन Vaśyādhikāramañjuśrīsādhana		CAMBRIDGE	Add.1648
वसुधारात्रतमाहात्म्य Vasudhārāvrata mahātmya		IASWR	MBB-I-57
वसुधारात्रतविधान Vasudhārāvrata vidhāna		"	MBB-II-200
हेवज्रमुखाख्यानसमाधि Hevajramukhākhyānasamādhī		RAK	Reel No.E.1243/5

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	17	Comp.	
"	Dev.	(10-20)	"	
"	"	(20 ^b -21 ^b)	"	
"	"	(176 ^b -177 ^a)	"	
Paper	N	(74-76 ^a)	"	
NP	"	11		
"	"	24		
"	"	27		

हेवज्रसाधनोक्त ज्ञानचक्र विवेचन

—ठाकुरसेन नेगी—

['धीः' के 28वें अंक में 'हेवज्रसाधनोपायिका' आचार्य सरोरुहपाद (पद्मवज्र) कृत, 'हेवज्रसाधन वज्रप्रदीप टिप्पणी' आचार्य जालन्धरपाद कृत तथा 'प्रकाशनाम हेवज्रसाधन' आचार्य राहुलगुप्तपाद कृत—उक्त ग्रन्थों के आधार पर 'हेवज्रसाधनोक्त कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं' पर प्रकाश डाला गया था।]

प्रस्तुत अंक में उसके अवशिष्ट—ज्ञानचक्र, अभिषेक आदि का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।]

हेवज्रतन्त्र का प्रारम्भ 'एवं मया श्रुतम्' इस निदान वाक्य से होता है। भगवान् ने स्वयं कहा है—प्रारम्भ में इस निदान वाक्य को कहकर मेरे धर्म का संगायन करना चाहिए। यथा—'एवं मया श्रुतमिति भिक्षवो मम धर्मः संगतव्यः'¹। यह निदान वाक्य संगीतिकार का वचन है। स्वयं सम्यक्संबुद्ध होकर धर्म की देशना की जाती है। उपदेशक से सुनकर संगायन किया जाता है। अतः 'श्रुतम्' इसके द्वारा संगीतिसूचित होती है। साक्षात् श्रवण न करने पर अथवा अन्यथा श्रवण होने पर संगीति प्रामाणिक नहीं होती और वञ्चना की भी संभावना होती है। अतः इन सबके निराकरण के लिए 'एवं मया' इन दो पदों का निवेश किया गया है। अर्थात् मैंने स्वयं इसे उपदेशक के मुख से सुना है, न कि श्रुतिपरम्परा से आगत का श्रवण किया है तथा जैसे मैंने सुना है, वैसे ही संगायन कर रहा हूँ।

अनुरूप स्थान में कभी-कभी उपदेशक का विहार हुआ करता है और कभी-कभी अनुरूप परिषद् का सन्निपात होता है, अतः ये दोनों देशना के कारण होते हैं, इसलिए 'एकस्मिन् समये' ऐसा कहा गया है²। हेवज्रपञ्जिकामुक्तावली एवं योगरत्नमाला में इसके गूढार्थ की विस्तृत व्याख्या उपलब्ध है। जिसके अनुसार उसके उपास्य भगवान् हेवज्र हैं। भगवान् का तात्पर्य हेवज्रमूर्ति वज्रधर से है। ऐश्वर्य, ज्ञान आदि छह गुणों से जो युक्त होता है, उसे भगवान् कहते हैं। भगवान् में भग शब्द ऐश्वर्यों की ओर संकेत करता

1. उक्तं च भगवता—'एवं मया श्रुतमिति भिक्षवो मम धर्मः संगतव्यः'। ...स्वयमभिसंबुद्धो धर्मो देशयते।
दैशिकाच्छ्रुतः सङ्गीयते। ... (हे० पं० मु० व०, पृ० 2)

2. अनुरूपे स्थाने कादाचित्को दैशिकस्य विहारोऽनुरूपश्च परिषत्सन्निपातो देशनाया निदानम्, तदाह—
एकस्मिन्नित्यादि। (हे० पं० मु० व०, पृ० 2)

है। इसकी पुष्टि में शास्त्र को उद्धृत कर कहा है कि समस्त ऐश्वर्यों, यश, श्री, रूप प्रयत्न आदि से युक्त भगवान् है। भगवान् वज्रधर कायवाक्चित्त हृदय है। अर्थात् वे इन तीनों के सार हैं तथा परम दैवत हैं। वे ही इन ऐश्वर्यों में विहार करते हैं¹। भगवान् वज्रधर नाथ हैं और परमानन्दमय होकर श्मशान में विहार करते हैं। यहाँ श्मशान को 'नैरात्म देह' कहा है। इसका तात्पर्य है भगवान् वज्रधर सदैव नैरात्म स्थिति में विहार करते हैं²।

हेवज्रतन्त्र में बोधिसत्त्व वज्रगर्भ ने भगवान् से पूछा है कि प्राणियों के आवरणयुक्त कुशल, अकुशल, अव्याकृतकर्म आकाश के समान व्यापक हैं और उनका प्रतिपक्ष स्वाधिदैवत भावना है, जो सागर में तुम्बिका के समान है। इसका तात्पर्य है कि प्रतिपक्ष (मार्ग) अत्यन्त अपर्याप्त है, फलतः उससे कैसे संसारसागर से पार उतरा जा सकता है?

भगवान् ने कहा है कि जैसे पर्वत की गुफा में चिरकाल से संचित अन्धकारसमूह का तैल का एक दीपक क्षण भर में विनाश कर देता है, वैसे ही लोकोत्तर मार्ग अनादिकाल से संचित क्लेश राशि को एक बार ही उत्पन्न होकर क्षण भर में नष्ट कर देता है। वह लोकोत्तर मार्ग नैरात्म्या योग या हेरुकयोग है। योग का अर्थ भावना है और भावना का अर्थ क्षणों की निरन्तरता है³। वह योग भी समाहित और असमाहित भेद से द्विविध है। जाग्रदवस्था में असमाहित योग और रात्रिकाल में समाहित योग किया जाता है। अर्थात् नैरात्म्या अथवा हेरुक की भावना की जाती है। इस योग से एक पक्ष में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। तदनन्तर मुद्रासिद्धि, उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम का प्रतिपादन किया

1. भगवान् इति हेवज्रमूर्तिधरः। भगा ऐश्वर्यादयो गुणा विद्यन्ते यस्य स भगवान्। तथा चोक्तम्—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य ज्ञानस्य यशसः श्रियः ।

रूपस्यार्थप्रयत्नस्य षण्णां भग इति श्रुतम् ॥

“सर्वतथागतकायवाक्चित्तहृदयं सारं वज्रधरभट्टारकं परमदैवतं अतएव सर्वतथागतानां गुह्यवज्रधरः।”

(हे० पं० मु० व०, पृ० 3, हे० पं० यो० र० मा०, पृ० 103-104)

2. ...श्मशाने नैरात्मके देहे नाथः परमानन्दमयो विहरति। (हे० पं० यो० र० मा०, पृ० 115)

3. वज्रगर्भ आह—

गगनवत् सर्वधर्मेषु सागरे तुम्बिका यथा ।

सत्त्वाः कथं प्रसिध्यन्ति स्वेष्टदेवतारूपतः ॥ (हे० त० 2.2.1)

भगवानाह—यथाहि गिरिगह्वरे सकृत्कृतस्तैलप्रद्योतश्चिरकालसञ्चितं तमःस्कन्धं क्षणात् क्षिपति, एवमयमनास्रवो मार्गः सकृदुत्पन्नोऽनादिकालोपचितं विपक्षराशिं तत्क्षणमपोस्यतीतिभावः। स एव तर्हि लोकोत्तरो मार्गः कथमचिराज्जायत इति चेत्? योगविशेषात्। तत्र योगस्यालम्बनविशेष आत्मैव आकारविशेषो नैरात्म्ययोगिनी हेरुको वा। भावना विशेषः क्षणनैरन्तर्यम्। (हे० पं० मु० व०, पृ० 135)

गया है। तदनन्तर देह के प्रति वैराग्य का निषेध करते हुए चार आनन्दों का निरूपण किया गया है। जिन कर्मों से प्राणी संसार में बन्धन को प्राप्त होते हैं, उपाय के साथ सेवन करने से वे ही कर्म मोक्ष के हेतु हो जाते हैं। हेरुक की भावना के प्रारम्भ में पहले गुरु और बुद्ध को निवेदन कर देना चाहिए। जैसे चिन्तामणि विद्ध हो जाने पर अभिप्रेत अर्थों की सिद्धि करती है, उसी प्रकार पाँच कामगुणों से संसार अशुद्ध रहने पर विष के समान होता है, किन्तु वही (संसार) विशुद्ध होने पर अमृत के समान हो जाता है। यह संसार हेरुकाकार है और इसका तत्त्वतः बोध कर लेने पर यही संसार से पार हो जाने का उपाय बन जाता है¹।

बोधिसत्त्व वज्रगर्भ को भगवान् ने प्रमुख बनाकर हेवज्रतन्त्र का उपदेश किया है, वैसे परिषद् में अनेक बोधिसत्त्व और वज्रयोगिनियाँ उपस्थित थीं। वज्रगर्भ की जिज्ञासा पर भगवान् ने कहा है कि वज्रदेह में बत्तीस बोधिचित्तवहा नाड़ियाँ महासुख स्थान की ओर प्रवाहित होती हैं। उनमें ललना, रसना और अवधूती तीन प्रधान नाड़ियाँ हैं²। ललना प्रज्ञास्वभावा है और रसना उपायस्वभावा है। मध्यदेशीय अवधूती ग्राह्य-ग्राहक वर्जिता है। इसी प्रकार ललना अक्षोभ्यावहा (शुक्रवहा) है और रसना रक्तवहा नाड़ी है³। अकारादि सोलह स्वर वाली नाड़ी आलि है और ककारादि चौतीस व्यञ्जन वाली नाड़ी कालि हैं। इस तरह ललना-रसना, चन्द्रसूर्य तथा प्रज्ञोपाय क्रमशः एक-दूसरे के पर्याय हैं⁴। वाम नासापुट से प्रवाहमान वायु आलि है उससे भिन्न कालि का प्रवाह दक्षिण नासापुट से होता

1. तद्वत् संसारकं रत्नं पञ्चकामगुणैर्युतम् ।
अविशुद्धं विषतां याति विशुद्धं पीयूषवद् भवेत् ॥
संसारं हेरुकाकारं जगदुत्तारणं प्रभुम् ।
येन रूपेण संभूतं तदहं वच्मि शृण्वताम् ॥ (हे० त० 2.9.9-10)
महारत्नम् इति चिन्तामणिः। विद्धः सन्निति स एव मणिः रुचिराभिप्रेतोऽर्थः। पीयूषम् अमृतम्। प्रभुं समर्थम्। रूपेणेति तत्त्वेन। शृण्वताम् इति ये शृण्वन्ति तेषाम्। (हे० पं० मु० व०, पृ० 225)
2. वज्रगर्भ आह—हे भगवन्! वज्रदेहे कतमा नाड्यः। भगवानाह—द्वात्रिंशन्नाड्यः। द्वात्रिंशद्वोधिचित्तावहा महासुखस्थाने स्रवन्ते। तासां मध्ये तिस्रो नाड्यः प्रधानाः। ललना रसना अवधूती चेति। (हे० त० 1.1.13)
3. ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपायसंस्थिता ।
अवधूती मध्यदेशे ग्राह्यग्राहकवर्जिता ॥
अक्षोभ्यावहा ललना रसना रक्तवाहिनी ।
प्रज्ञाचन्द्रावहाख्यातावधूती सा प्रकीर्तिता ॥ (हे० त० 1.1.14-15)
4. अ-कारादि षोडशस्वरा आलिः। क-कारादिचतुस्त्रिंशद्व्यञ्जनानि कालिः त एव ललनारसने चन्द्रसूर्यौ प्रज्ञोपायौ। (हे० त०, भा०-2, पृ० 107)

है। इनके प्रवेश, स्थिति तथा व्युत्थान क्रम से “ॐ आः हूँ” मन्त्र जाप करते हुए योगी शीघ्रता से सुखमय समाधिलाभ प्राप्त करते हैं¹। इसी प्रसंग में योगरत्नमाला में कृष्णपाद ने चण्डाली शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि क्लेशोपक्लेश का निष्कृन्तन करने से चण्डस्वभाव होने के कारण प्रज्ञायुक्त आलि (प्रज्ञा) चण्डाली कही जाती है। जो नाभिचक्र में प्रज्वलित रूप में विद्यमान रहती है। यह चण्डाली ही अंकार है तथा वज्रसत्त्व हूँकार रूप है। इस प्रकार चण्ड प्रज्ञा वाम नाड़ी तथा आलि है। उपाय दक्षिण नाड़ी है। गुरुपदेश द्वारा इन दोनों के संयोग से चण्डाली का अभ्युदय होता है²। नाभि में इसके प्रज्वलित होने का अर्थ—मध्य में इसका प्रज्वलन होना है। यह मध्य नाड़ी से ही महाराग (करुणा) की अग्नि से पञ्चस्कन्धों, लोचनादि, पृथ्वी आदि पाँच-भूतों को दग्ध करती है तथा हंकार को दग्ध करने पर महासुख की उत्पत्ति होती है।

हेवज्रतन्त्र में कहा है—साधक को विभिन्न आभूषणों को धारण कर पञ्चामृत का सेवन करना चाहिए तथा उसे पञ्चवर्णों में विहार और उसे एक मानना चाहिए। साधना के लिए उचित स्थान—एकान्त में, पेड़ के नीचे, श्मशान, मातृगृह अथवा कोई निर्जन स्थान चुनना चाहिए³। ध्यान के लिए रात्रिकाल अधिक उपयुक्त होता है। ध्यान का कुछ प्रभाव

1. आलि-कालि आलिर्वाचनासापुटप्रभवो वायुः। तदपरः कालिः। ते एव प्रवेशस्थितिव्युत्थानक्रमेण—ओं आः हूँ काररूपेणाधिमुच्य पश्यतो योगिनः चेतसः स्थैर्यलाभात् सर्वसमाधयः सुखतरं आशुतरं चोत्पद्यते।
2. चण्डाली—चण्डा प्रज्ञा क्लेशोपक्लेशनिष्कृन्तने चण्डस्वभावत्वात्। आलिर्वज्रसत्त्वः चण्डाली शब्देनोच्यते। ज्वलिता नाभाविति...। ...चण्डा प्रज्ञा अं-कारः। आलिर्वज्रसत्त्वो हूँ-कारः ..., चण्डा प्रज्ञा वामनाडी आलिरूपा उपायो दक्षिणनाडी । ते द्वे गुरुपदेशतः संयोगं गते चण्डालीत्युच्यते ॥ ज्वलिता नाभौ इति नाभिशब्दो मध्यवाची तयोर्मध्ये अवधूत्यां दहतीति। महारागाग्निना पञ्चस्कन्धान् लोचनादीनीति पृथिव्यादीनि दग्धे हूँ इति। हं-कारममकारौ दग्ध्वा श्रवते महासुखज्ञानं उत्पद्यते तद् वक्ष्यति। (हे० त०, भा०-2, पृ० 107-108)
3. भावकेन विधर्तव्यं कर्णयोर्दिव्यकुण्डलम् । शिरसि चक्री धर्तव्या हस्तयोरुचकद्वयम् ॥ कट्यां वा मेखलं चैव पादयोर्नूपुरं तथा । बाहुमूले च केयूरं ग्रीवायामस्थिमालिका ॥ परिधानं व्याघ्रचर्म भक्षणं दशार्धामृतम् । हेरुकयोगस्य पुंसो विहारः पञ्चवर्णेषु ॥ पञ्चवर्णसमायुक्तमेकवर्णं तु कल्पितम् । अनेकेनैकवर्णेन यस्माद् भेदो न लक्ष्यते ॥

(अनुभव) होने पर किसी षोडशीकन्या के साथ वज्रगीतों का गायन एवं नृत्य करते हुए हेवज्रसाधना स्थान में आकर नृत्य करें। इस समय उनका गायन ही मन्त्र होता है और नृत्य ही उनका ध्यान होता है।

परमार्थ का मनन जगत्त्राण मन्त्र का मूल तत्त्व है, पारमार्थिक बोधिचित्त के द्वारा ही यह कार्य संभव है। योगरत्नमाला में जिस मन्त्र योग का विधान है, उसमें कई प्रकार की साधन-सामग्रियों का मन्त्रोच्चारण सहित अधिष्ठान का निर्देश है। साथ ही उनके देश-काल, प्रयोग आदि के साथ—वज्रा, गौरी, चौरी आदि देवियों का भी निर्देश है। मारण, मोहन, स्तम्भन, उच्चाटन आदि के लिए मन्त्रों का प्रयोग विदित है¹। योगरत्नमाला में कृष्णपाद ने कहा है देवियों एवं देवताओं की साधना के लिए किसी मनोरम स्थान में सुखासन में बैठकर इस योग की रक्षा के लिए “ॐ रक्ष-रक्ष हूँ हूँ फट् स्वाहा” मन्त्र का तीन बार उच्चारण कर पटादिगत भगवन्मूर्ति की अभ्यर्चना करनी चाहिए²। तदुपरान्त पापदेशना, पुण्यानुमोदना, त्रिशरणगमन कर बोधिचित्त का उपस्थापन कर प्रथम क्षण में मैत्री (सर्वसुखोपनयन), द्वितीय क्षण में करुणा (सर्वदुःखापनयन), तृतीय क्षण में मुदिता (सर्वसुखाविच्छेद) तथा चतुर्थ क्षण में उपेक्षा (सकलक्लेशोपक्लेश प्रतिपक्षमार्गोपसंहार) की भावना करनी चाहिए। इस योग के उपरान्त भावना योग का विधान किया गया है, जिसमें भगवान् के रूप का वर्णन कर स्वयं भावक योगी (साधक) ही द्वेषात्मक हेरुक के रूप में स्वयं की भावना करता है³।

एकवृक्षे श्मशाने वा भावना कथ्यते शुभा ।

मातृगृहे तथा रम्येऽथवा विजनप्रान्तरे ॥ (हे० त० 1.6.2-6)

1.सामर्थ्यं बहुविधं मतम् ।

स्तम्भनोच्चाटणं चैव सैन्यस्तम्भाभिचारिकम् ॥ (हे० त० 1.1.8)

परमार्थमननाज्जगत्त्राणनाच्च मन्त्रः पारमार्थिकबोधिचित्तं मन्त्रः मन्त्रनिष्यन्दत्वात् ओंकारादिस्तथोक्तः।

(द्र०-हे० त०, भा०-2, योगरत्नमाला, पृ० 111-113)

2. सर्वप्रथमं तु मनोरमे स्थाने स्थित्वा सुखासने निषद्य स्थानात्मयोगरक्षार्थं ॐ रक्ष रक्ष हूँ हूँ फट् स्वाहेति त्रिउच्चार्य पटादिगतमूर्ति भगवन्तमभ्यर्च्य स्वमन्त्रेणार्धं परिजप्य पापदेशना पुण्यानुमोदत्रिशरणगमनं कृत्वा बोधिचित्तमुपस्थाप्य ततः प्रथमं भावयेद् मैत्रीं सर्वसत्त्वेषु निरुत्तरसुखोपनयनाकाराम्, द्वितीये क्षणे तेष्वेव सर्वदुःखापनयनाकारां करुणाम्, तृतीये तेष्वेव दिव्यसुखाविच्छेदनियमाकारां मुदिताम्, उपेक्षां सर्वशेषतः तेष्वेव सकलक्लेशोपक्लेशप्रतिपक्षमार्गोपसंहाराकारां भावयेदिति। (हे० त०, भा०-2, पृ० 113-114)

3. तस्योपरिस्थितमात्मानमधिमुच्य हेरुक्त्वमात्मनः प्रसाधयेत्। स्वहृदित्यादि द्वेषात्मानं विभावयेदिति। हेरुकरूपमात्मानं भावयेदित्यर्थः। (हे० त०, भा०-2, पृ० 114-115)

हेवज्रतन्त्र में (1) मैत्री, (2) करुणा, (3) मुदिता तथा (4) उपेक्षा की भावना से क्रमशः—(1) शून्यताबोधि, (2) बीजसंग्रह, (3) बिम्बनिष्पत्ति तथा (4) अक्षरन्यास का विधान मिलता है¹। भगवान् ने कहा भी है—सामने 'रं' से उदित सूर्य की विभावना, उसके मध्य नाभि में 'हूँ' भव विश्ववज्र की भावना करनी चाहिए। तत्पश्चात् इसे वज्र से उदित एक प्राकारक (वेदिका) तथा वितान की कल्पना करनी चाहिए²। इस वेदिका पर सर्वप्रथम धर्मधातु रूप एक शव की कल्पना करनी चाहिए। इसके बाद साधक अपने हृदय में 'रं' बीज की, उससे उदित सूर्य बिम्ब की तथा उस पर प्रतिष्ठित प्रज्ञोपायात्मक 'हूँ' बीज की भावना करे। कृष्णवर्णात्मक महाघोर बीज हूँ। वज्र से उत्पन्न होता है। साधक द्वारा भावना करनी चाहिए कि यह बीज 'हूँ' वज्रवरटक के मध्य स्थित है, इसकी प्रकृति द्वेष है। यह वज्रसंभूत महाकृष्ण है तथा नीलपंकजसन्निभ है अथवा नीलरक्ताभ संयुक्त है। इस प्रकार आकाश में वज्रजन्म महाकृपालु भट्टारक का दर्शन कर सर्वालंकारमण्डित अष्ट देवियों से परिवृत रूप में भावना कर उनकी पूजा करनी चाहिए³। इसी तरह भगवान् के षड्भुज, चतुर्भुज तथा त्रिमुखात्मक रूप का वर्णन है। इस प्रकार देवता का स्वहृदय में

1. प्रथमं भावयेन्मैत्रीं द्वितीये करुणां तथा ।
तृतीये भावयेन्मोदं उपेक्षासर्वशेषतः ॥
प्रथमं शून्यताबोधिं द्वितीयं बीजसंग्रहम् ।
तृतीयं बिम्बनिष्पत्तिं चतुर्थं न्यासमक्षरम् ॥ (हे० त० 1.3.1-2)
रेफेण सूर्यं पुरतो विभाव्य
तस्मिन्नाभौ हूँ-भवविश्ववज्रम् ।
तेनैव वज्रेण विभावयेच्च
प्राकारकं पञ्जरबन्धनं च ॥ (हे० त० 1.3.3)
3. प्रथमं भावयेन्मृतकं धर्मधात्वात्मकं विदुः ।
योगी तस्योपरि स्थित्वा हेरुक्तत्वं विभावयेत् ॥
स्वहृदि भावयेद्रेफं तद्भवं सूर्यमण्डलम् ।
तत्रैव हूँ कृतिं चैव प्रज्ञोपायस्वभावकम् ॥
कृष्णवर्णं महाघोरं हूँ-कारं वज्रसम्भवम् ।
वज्रवरटकमध्यस्थं हूँ-तत्त्वं विभावयेत् ॥
हूँ-कारं परिणतं दृष्ट्वा द्वेषात्मकं विभावयेत् ।
वज्रजन्ममहाकृष्णं नीलपङ्कजसन्निभम् ।
अथवा नीलारुणाभं च भावयेच्छन्दया खलु ॥
व्योमिन् भट्टारकं दृष्ट्वा वज्रजन्ममहाकृपम् ।
पूजयेदष्टदेवीभिः सर्वालङ्कारधारिभिः ॥ (हे० त० 1.3.4-8)

संहरण कर विभावना करता हुआ योगी (साधक) अन्ततः द्वेषात्मक (निज उपास्य) स्वरूप हो जाता है।

हेवज्रसाधना मन्त्रयोग समन्वित भावना योग है। इसमें साधक यह भावना करता है कि उसके हृदयस्थ बीज 'हूँ' द्वारा एक कृष्णदीप्ति वाली अंकुशाकार रश्मि का निश्चरण हो रहा है जो त्रैधातुक विश्व में स्थित बुद्धों को आकर्षित कर रही है। इस प्रकार का आकर्षण कर वह हेरुकाकार पञ्चतथागतात्मक रूप तथा पञ्चामृतपूर्ण कुम्भों से अभिषिञ्चित होता है। उस समय पुष्प एवं कुंकुम की वर्षा होती है तथा दुन्दुभि शब्द का उद्घोष होता है। लोचना आदि देवियाँ वज्रगीतों का गायन करती हैं। ऐसा करने पर कुलेश साधक के शीर्षभाग पर उदित होता है तथा हेरुक का साधक में प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार का साधनाभ्यास प्रातः, मध्याह्न एवं रात्रि में सम्पन्न करने पर साधक शक्ति-सम्पन्न तथा सदैव देवमूर्ति रूप में स्थित रहता है¹। इस भावनायोग की पूर्ण स्थिति का स्पष्ट वर्णन हेवज्रतन्त्र में देखने को मिलता है। इस स्थिति में तत्त्वतः न तो रूप रहता है, न द्रष्टा, न शब्द, न श्रोता, न गन्ध, न घ्राण, न रस, न रसिक, न स्पर्श, न स्पर्ष्टा, न चित्त, न चैतसिक रहता है। इन सबकी कोई पृथक् तात्त्विक सत्ता नहीं रहती है। ऐसी स्थिति में योगी (साधक) को सदैव जननी, भगिनी, नटी, रजकी, वज्रा, चण्डाली आदि की हेरुक के साथ प्रज्ञोपाय विधान से पूजा करनी चाहिए। इनकी इस प्रकार सेवा करनी चाहिए ताकि किसी प्रकार का भेद उत्पन्न न हो²। ब्राह्मणी, चण्डाली, रजकी आदि में कोई भेद नहीं है। इन्हें हमेशा प्रज्ञा समझकर पूजा करनी चाहिए। इस भावनायोग का सम्पूर्ण विवेचन केवल हेवज्रतन्त्र में ही नहीं, प्रत्युत उसकी टीका योगरत्नमाला एवं मुक्तावली में भी देखने को मिलता है।

1. “स्वहृदि स्वबीजाद् रश्मिं निश्चार्य कृष्णदीप्तयाङ्कुशाकारया त्रैधातुकव्यवस्थितान् बुद्धानाकृष्याष्टमातृभिः संपूज्यानुनाययति। तैर्बुद्धैर्हेरुकाकाररूपैः पञ्चामृतभृतैः पञ्चतथागतात्मकैः कलशैः पञ्चभिरभिषिच्यते। अभिषिच्यमाने पुष्पवृष्टिर्भवति। दुन्दुभिः शब्द उच्चलति कुङ्कुमवृष्टिर्भवति। ...वज्रगीत्यो लोचनादि-भिर्गीयन्ते। अभिषिच्यमाने मूर्ध्निस्वकुलेशो भवति। एतेन हेरुको निष्पन्नः। त्रिसंध्याधिष्ठानभावनां विभाव्योत्तिष्ठेत्। देवतामूर्त्यां स्थातव्यम्”। (हे० त० 1.4.1-3)

2. नास्ति रूपं न द्रष्टा च न शब्दो नापि श्रोता च ।
न गन्धो नापि घ्राता च न रसो नापि रासकः ।
न स्पर्शो नापि स्पर्ष्टा च न चित्तं नापि चैतिकम् ।।
जननीं भगिनीं चैव पूजयेद् योगवित् सदा ।
नटीं च रजकीं वज्रां चण्डालीं ब्राह्मणीं तथा ।
प्रज्ञोपायविधानेन पूजयेत् तत्त्ववत्सलः ।।
सेवितव्याः प्रयत्नेन यथा भेदो न जायते । (हे० त० 1.5.1-3)

ज्ञानचक्र—षोडश भुजाएं षोडश शून्यता विशुद्धि है। दायें (दक्षिण) के आठ हाथों में स्थित आठ पद्मपात्रों में यथाक्रम¹—हस्ति, अश्व, खर, गो, उष्ट्र, मनुष्य, शरभ एवं विडाल हैं। इसी प्रकार पृथिवी, वरुण, तेज, वायु, चन्द्र, अर्क, यम एवं धनद आदि बायें (वाम) के आठ पद्मपात्रों में क्रम से जानने चाहिए²। कास, श्वास, उन्माद, क्षय, कुष्ठ, विचर्चिका, प्लीहा तथा यकृत आदि स्वभाव से सभी इसी में प्रकीर्तित हैं। इस प्रकार आठ क्लेशों की विशुद्धि से कुञ्जरादि गृहीत हैं³। पृथिवी आदि से धनद पर्यन्त तक आठ ऐश्वर्य विशुद्धि हैं। जैसे—(1) कायैश्वर्य, (2) वागैश्वर्य, (3) चित्तैश्वर्य, (4) ऋद्धि, (5) सर्वगतैश्वर्य, (6) इच्छा, (7) कर्ता एवं (8) गुण आदि आठ हैं⁴। अन्तकाय (1) कायैश्वर्य है। सभी भाषाओं में बोलना, (2) वागैश्वर्य हैं। सभी सत्त्वों के चित्त को जानना, (3) चित्तैश्वर्य है। ऋद्धि के द्वारा अनन्तलोकधातुओं को देखना, (4) ऋद्धि-ऐश्वर्य है। त्रैलोक्य एक मूर्ति है, ऐसा बोध होना, (5) सर्वगत-ऐश्वर्य है। इच्छा शब्द के द्वारा काम को कहा गया है और इस काम के द्वारा सत्त्वों में महासुख की उत्पत्ति करना, (6) कामेश्वर्य है। कर्ता वज्रधर है। अतः वह (7) कर्तेश्वर्य है। देवता के आकार में आचरण करना, (8) गुणैश्वर्य है⁵।

पद्मभाजन करुणाङ्ग विशुद्धि से है। भुजाएं शून्यताविशुद्धि है। इसके द्वारा शून्यता एवं करुणा की अभिन्नता जान लेनी चाहिए। मैत्रीचित्त कृष्णाङ्ग है। आठ मुख आठ विमोक्ष विशुद्धि से है। संमुखस्थ कृष्ण(मुख) द्वेषकर्म साधन हेतु है। वश्य साधनार्थ हेतु

1. षोडशभुजः षोडशशून्यताविशुद्ध्या। दक्षिणाष्टभुजस्थिताष्टपद्मभाण्डेषु यथाक्रमम्। (हे० प्र० सा०)

2. हस्त्यश्वखरगावुष्ट्रमनुजशरभौतुकस्तथा ।

दक्षिणाष्टकपालेषु क्रमैर्ज्ञेया द्विपादयः ॥

पृथिवी वरुणवायुश्च तेजश्चन्द्रार्क एव च ।

अन्तको धनदश्चैव वामाष्टकपालके ॥ (हे० त० 2.5.24-25)

3. कासश्वासस्तथोन्मादक्षयकुष्ठविचर्चिकाः ।

प्लीहयकृत्स्वरूपाश्च गजाद्या परिकीर्तिता ॥

इत्यष्टक्लेशविशुद्ध्या कुञ्जरादयो गृहीताः। (हे० सा० व० प्र० टि०)

4. कायैश्वर्यं वागैश्वर्यं चित्तैश्वर्यं तथैव च ।

ऋद्धिः सर्वगतैश्वर्यमिच्छाकर्तागुणाष्टकम् ॥ (हे० प्र०)

5. कायानन्ते कायैश्वर्यम्, सर्वं वदतीति वागैश्वर्यम्, सत्त्वचित्तं जानातीति चित्तैश्वर्यम्, ऋद्ध्यानन्तलोकधातुं पश्यतीति ऋद्ध्यैश्वर्यम्, त्रैलोक्यैकमूर्तिमिति सर्वगतैश्वर्यम्, इच्छाशब्देन काम उक्तः। कामेन महासुखं सत्त्वानामुत्पादयतीति कामैश्वर्यम्, कर्ता वज्रधरता इति कर्तेश्वर्यम्। देवताकारेणाचरणमिति गुणैश्वर्यम्। (हे० सा० व० प्र० टि०)

वाम रक्त(मुख) है। दक्षिण शुक्ल मुख शान्ति कर्म साधन के लिये है। पृष्ठभाग (पीठ के पीछे) का मुख विकराल धूम्र वर्ण। पश्चिम में उद्भूत द्वेषादि क्लेश के विशोधन के लिए है। चार मार के विनाश हेतु पुनः दायें (दक्षिण) एवं बायें (वाम) दो-दो मुख कृष्ण हैं। सभी मुख दंष्ट्राकराल हैं। चञ्चल भ्रू-भङ्ग सहित महाभीम (भयानक) प्रलयानल (कालाग्नि) ज्वालामाला से आकुल प्रभा वाले क्रोधात्मक हैं¹। प्रत्येक मुख रक्त, वर्तुल एवं त्रिनेत्र है।

त्रिवज्र की विशुद्धि एवं तीनों कालों का परिज्ञान इस त्रिनेत्र द्वारा होता है। पटबद्ध ऊपर उठे पिङ्गल केश हैं। सभी राग आदि क्लेश जलाये गये हैं। जगत् का हित करने के कारण सिर विश्ववज्र से अङ्कित है। पाँच स्कन्धों की निःस्वभावता के अवगम (प्रतिपादन) से ललाट पाँच शुष्क मुण्डमालाओं से अलंकृत हैं²। पाँच तथागतों की विशुद्धि से चक्र, कुण्डल, कण्ठी, हाथों में रुचक, मेखला पाँच मुद्राओं से युक्त है। वज्रसत्त्वविशुद्धि से 'भस्म' भी है। इस प्रकार यह छह मुद्राएं प्रकीर्तित हैं³। सभी (समस्त) धर्मों में निरावरण अवगम (प्रतिपादन) द्वारा सम्यक् ज्ञान की विशुद्धि से नग्नता है। चतुः संग्रहवस्तु के द्वारा चार चरण (पाद) हैं। बोधिचित्त की प्राप्ति के कारण सूर्यमण्डल में दो पादों के द्वारा अर्धपर्यङ्क मुद्रा से ताण्डवधर है। यही अशेष (समस्त) त्रिधातुओं में एक मूर्ति के अवबोध से पाद के एक अङ्गुष्ठ पर खड़े दिखाई देते हैं। इसी प्रकार विघ्नविनाश से आलीढपदधर है। आलि-कालि 50 अक्षरों की विशुद्धि से (50 अक्षरों से रचित) रक्त आर्द्र शिरोमाला स्कन्ध-प्रतिलम्बित है। अर्थात् युगनद्ध मार्ग के उपस्थान से शिरोमाला स्कन्ध प्रदर्शित है⁴।

1. सद्भूभङ्गं महाभीमं प्रलयानलज्वालालाकुलप्रभं क्रोधोऽनेकत्वात्। (हेवज्रप्रकाश)

2. त्रिनेत्रत्वं त्रिवज्रविशुद्ध्या, कालत्रयपरिज्ञानाच्च। चतुर्विंशति नेत्राया। पटबद्धोर्ध्वपिङ्गलकेशं सकल-रागादिक्लेशदहनात्। विश्ववज्राङ्कितशिरस्कम्, जगदर्थकरणात् ललाटोपरिपञ्चशुष्कमुण्डमालालंकृतम्, पञ्चस्कन्धानां निःस्वभावताप्रतिपादनाय। (हेवज्रप्रकाश)

3. चक्रीकुण्डलकण्ठी च हस्ते रुचकमेखला ।

पञ्चबुद्धविशुद्ध्या च एता मुद्राः प्रकीर्तिताः ॥ (हे० त० 1.3.14, 1.8.17)

“चक्रीकुण्डलकण्ठी च हस्तेरुचकमेखलामेति पञ्चमुद्रोपेतं पञ्चतथागतविशुद्ध्या भस्मेति वज्रसत्त्व-विशुद्धम्। मुद्राषट्कं प्रकीर्तितम्।” (हेवज्रप्रकाश)

4. सम्यग्ज्ञानविशुद्धिं नग्नत्वम्। सर्वधर्मनिरावरणप्रतिपादनाय। चत्वारश्चरणाः संग्रहवस्तुचतुष्केण सूर्यमण्डल-पादद्वयेनार्द्धपर्यङ्कताण्डवधरम्। प्राप्तबोधिचित्तत्वात्। सकलत्रैधातुकैकमूर्तिप्रतिपादनाय पादाङ्गुष्ठैकदर्शिता। तथैवालीढपदधरता विघ्नविनाशाय स्कन्धप्रतिलम्बितपञ्चाशदक्षररचिता सार्द्राक्षररक्तशिरोमाला आलि-कालिपञ्चाशदक्षरविशुद्ध्या युगनद्धमार्गोपदर्शिका। (हेवज्रप्रकाश)

शृङ्गार, वीर, बीभत्स, रौद्र, हास्य, भयानक, करुण, अद्भुत, शान्त के द्वारा नाट्य के नौ रसों से युक्त है।

यह नैरात्म्या के साथ सहज एकरसता शृङ्गार है। श्मशान में अवस्थित वीर है। भृकुटीकरालता बीभत्स है। ज्वाला प्रभा रौद्र है। विकसित वदनता हास्य है। आर्द्रमुण्डमाला से युक्तता भयानक है। सत्त्वों पर अनुग्रह चित्तता करुणा है। मायारूपता अद्भुत है। राग आदि क्लेशों की प्रहीणता शान्ति है जो इन (सभी नाट्य) रसों से युक्त है। तत्पश्चात् द्वि-अष्ट (16) वर्ष के आकार से ललितकाय नैरात्म्या के साथ समाहित भगवान् के रूप में स्वयं को देखना चाहिए। जिस प्रकार भगवान् है, उसी प्रकार भगवती भी है। किन्हीं पाँच मुद्राओं से युक्त शुष्क नर (के) सिरों की मालाओं से अलंकृत कायवाली, देव-असुरों के रक्त से पूर्ण बायें हाथ में कपाल धारण किये हुए, अशेष क्लेशों के छेदन हेतु दायें हाथ में कर्तरि धारण किये हुए है। त्रिधातु की एक मूर्ति के प्रतिपादन हेतु एकमुखी भगवान् के अधररस के आस्वादन करने वाली, प्रत्यालीढ पद के द्वारा परममहासुख रस से भगवान् के साथ समहित होते हुए ध्यान (चिन्तन) करना चाहिए। षट् पारमिताओं की विशुद्धि से हेवज्र षड्भुज है²। तीन मुख—मूलमुख कृष्ण, वाममुख रक्त, दक्षिण मुख श्वेत है। बायें दो हाथों के द्वारा त्रिशूल एवं वज्रघण्टा धारण किये हैं। दायें दो हाथों के द्वारा वज्र एवं कर्तरी धारण किये हुए तथा शेष हाथों द्वारा कर्तरी एवं कपाल सहित वज्र शृङ्खला में सम्पन्न मृतक को आक्रान्त किये हुए देखना चाहिए। पुनः चतुःमार विशुद्धि से हेवज्र चतुर्भुज है। दायें (हाथ) के द्वारा वज्रधारण किये हुए। बायें हाथ के द्वारा कपाल धारण किये हुए और शेष भुजाओं के द्वारा वज्रवाराही से समापन्न (अवास)

1. शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्र हास्यभयानकैः ।

करुणाद्भुतशान्तैश्च रवानाट्यरसैर्युतम् ॥ (हे० त० 2.5.26)

2. तत्र नैरात्म्यया सहैकरसतः शृङ्गारः। श्मशानस्थितिर्वीरः। भृकुटीकरालता बीभत्सम्। ज्वलत्प्रभता रौद्रम्। विकसितवदनता हास्यम्। सार्द्रमुण्डमाला भयानकम्। सत्त्वानुग्रहचित्तता करुणा। मायारूपत्वमद्भुतम्। प्रहीणरागादिक्लेशता शान्तमिति एभिर्युक्तम्। द्विरष्टवर्षाकृति ललितगात्रं नैरात्म्यासमापन्नं भगवन्तमात्मानं पश्येत्। यद्वद्भगवान् तद्वद्भगवती किञ्चपञ्चमुद्रोपेतां शुष्कनरशिरोमालालंकृतगात्राम्, देवासुररक्तपूर्णकपाल-व्यग्रवामकराम् अशेषक्लेशच्छेदनाय दक्षिणे कर्त्रिधारिणीम्। त्रैधातुकैकमूर्तिप्रतिपादनायैकमुखीम्। भगवदधररसमास्वादयन्तीम्। प्रत्यालीढपदां परममहासुखरसां भगवत्समापन्नां चिन्तयेत्। षड्भुजं तु हेवज्रम्। षट्पारमिता विशुद्धितः। (हे० प्र०)

एकानन शव को आक्रान्त किये हुए चिन्तन करना चाहिए¹। पुनः द्विभुज हेवज्र बायें (हाथ) में कपाल एवं खट्वाङ्ग तथा दायें हाथ में ज्वलित वज्र (को) मृतकाक्रान्त किये हुए देखना चाहिए। अन्य षड्भुज आदि प्रज्ञा वज्री है। शेष षोडश भुज के वर्ण, अलङ्कार आदि के समान हैं तथा हूँ से उद्भूत रूप में देखना चाहिए²।

इसी प्रकार वज्रशृङ्खला आदि भी नैरात्म्या के समान हैं। किन्तु सभी संज्ञामात्र भिन्न है। खट्वाङ्ग से आलिङ्गित अवस्थिति में सभी को होना चाहिए। इस प्रकार भगवान् को अपने इष्टदेव के आकार में निश्चित कर मन्थमन्थान योग से जो देवी का चक्र है, उसे पहले उत्सृष्ट करना अर्थात् त्यागना चाहिए। यहाँ पूर्वादि दिशा, वर्ण तथा चिह्न आदि का क्रम विशुद्धि द्वारा प्रतिपादन करना चाहिए³। यहाँ पूर्वद्वार पर विनेय मार सत्त्व के प्रबोधन के लिए गँ-कार से उद्भूत कृष्ण-गौरी है। मिथ्यादृष्टि के छेदन हेतु दायें हाथ में कर्तरी धारण किये हुए, संसार की वासना के विनाश हेतु बायें हाथ में रोहित मछली धारण किये हुए, उसे ब्रह्माक्रान्त रूप स्कन्ध के स्वभाव में चिन्तन करना चाहिए⁴।

दक्षिण में विनेय राग सत्त्व के प्रबोधन के लिए चँ-कार से उत्पन्न रक्तवर्ण चौरी है। प्रज्ञा एवं उपाय के प्रतिपादन (अवबोध) हेतु दायें हाथ में कृपीट धारण किये हुए। मोह विनाश हेतु बायें हाथ में वराह धारण किये हुए। उसे शक्राक्रान्ता वेदना स्कन्ध के स्वभाव में देखना चाहिए⁵।

1. त्रिमुखं मूलमुखं कृष्णं दक्षिणं शुक्लं वाम रक्तम्। वामद्विभुजं त्रिशूलवज्रघण्टाधरम्। दक्षिणद्विभुजाभ्यां वज्रकर्त्रिधरं शेषभुजाभ्यां कर्त्रिकपालसहिताभ्यां वज्रशृङ्खलासमापन्नं मृतकाक्रान्तं पश्येत्। चतुर्भुजं पुनर्हेवज्रं चतुर्मारविशुद्धितः। दक्षिणे वज्रधरं वामे कपालधरम्। शेषभुजस्यां वज्रवाराहीसमापन्नम्। एकाननं शवाक्रान्तं चिन्तयेत्। (हे० प्र०)
2. द्विभुजहेवज्रं वामे कपालखट्वाङ्गम्, दक्षिणे ज्वलद्वज्रं मृतकाक्रान्तं पश्येत्। अस्य तु प्रज्ञा वज्रा षड्भुजादीनां तु शेषं षोडशभुजवत् वर्णालङ्कार हूँ भवादि रूपं द्रष्टव्यम्। (हे० प्र०)
3. तथा वज्रशृङ्खलादीनां च नैरात्म्यवत्। संज्ञामात्रभिन्नाः सर्वाः। एवं भूतं भगवन्तं स्वेष्टदेवताकारेण निश्चित्य मन्थमन्थानयोगाद्यदुत्सृष्टं देवतीचक्रं प्राक्, तस्य पूर्वादिदिक्वर्णचिह्नादिक्रमो विशुद्धिद्वारेण प्रतिपाद्यते। (हे० प्र०)
4. तत्र पूर्वद्वारे गँकारजां गौरीं कृष्णां विनयमारसत्त्वप्रबोधनाय दक्षिणे कर्तिधारिणीं मिथ्यादृष्टिच्छेदनाय, वामे रोहितधरां संसारवासनाविनाशाय। ब्रह्माक्रान्तां रूपस्कन्धस्वभावां चिन्तयेत्। (हे० प्र०)
5. दक्षिणे चौरीं चँ-कारजां रक्तवर्णां रागविनेयजनप्रबोधनाय। दक्षिणकरे कृपीटधरां प्रज्ञोपायात्मकप्रतिपादनाय वामे वराहधरां मोहविनाशार्थं शक्राक्रान्तां वेदनास्कन्धस्वभावां पश्येत्। (हे० प्र०)

पश्चिम में सत्त्वों की पुष्टि हेतु वँ-कार से उद्धूत सुवर्णवर्णा वेताली है। शून्यता के अवबोध हेतु दायें हाथ में कच्छप धारण किये हुए। करुणा स्वभाव के अवबोध हेतु बायें हाथ में पद्मभाण्ड धारण किये हुए। उसे उपेन्द्रारूढ की संज्ञास्कन्ध स्वभाव में चिन्तन करना चाहिए।

उत्तर में अभिचारकर्म के प्रसाधन हेतु घँ-कार से उद्धूत घस्मरी मरकतमणिप्रभा के समान है। द्वेष-विशुद्धि के² कारण दायें हाथ में सर्प धारण किये हुए, प्रज्ञोपायात्मक अवबोध हेतु बायें हाथ में योगपात्र धारण किये हुए, उसे रूद्रारूढ की संस्कार स्कन्ध के स्वभाव में भावना करनी चाहिए।

ऐशान्य में जम्भल कर्म के प्रबोधन हेतु तथा मान (अभिमान) के विशोधन हेतु पुँ-कार से उद्धूत पुक्कसी नीलवर्ण है। मार सेना के विदारण (नाश) हेतु दायें हाथ में सिंह धारण किये हुए तथा अशेष द्वन्द्वों का छेदन करने के लिए बायें हाथ द्वारा परशु धारण किये हुए, उसे यमाक्रान्त का पृथिवी धातु के स्वभाव में चिन्तन करना चाहिए³।

आग्नेय में शान्त सत्त्वों के प्रबोधन हेतु तथा मान के विशोधन हेतु शँ-कार से उद्धूत श्वेत शबरी है। आदर्श आदि पाँच ज्ञानों के प्रबोधन हेतु दायें हाथ में भिक्षु धारण किये हुए तथा अद्वयज्ञान के अवबोध हेतु बायें हाथ में खिङ्गिरिका धारण किये हुए, उसे कुबेरारूढ अब्धातु के स्वभाव में देखना चाहिए⁴।

1. पश्चिमे वेताली वँ-कारजां कनकवर्णा सत्त्वानां पौष्टिकार्थम् दक्षिणे कूर्मधरां शून्यतार्थप्रतिपादनाय। वामे पद्मभाण्डधरां करुणास्वभावप्रतिपादनाय उपेन्द्रारूढां संज्ञास्वभावां विकल्पयेत्। (हे० प्र०)
2. उत्तरद्वारे घँ-कारजनितां घस्मरीं श्यामवर्णा, दक्षिणे हस्ते सर्पधरां वामे कपालम्। रूद्रारूढां संस्कारस्कन्धस्वभावां पश्येत्। (हेवज्रसाधनोपायिका)
उत्तरे घस्मरीं घँ-कारजं मरकतमणिनिभां अभिचारकर्मप्रसाधनार्थम् सव्ये सर्पधरां द्वेषविशुद्धितः। वामे योगपात्रधरां प्रज्ञोपायात्मकबोधनार्थम्। रूद्रारूढां संस्कारस्कन्धस्वभावां पश्येत्। (हे० प्र०)
3. ईशानकोणे पुक्कसी पुँ-कारजनितां नीलवर्णा दक्षिणभुजे सिंहं वामे परशुम्, वैवस्वताक्रान्तां पृथिवीधातुस्वरूपां विचिन्तयेत्। (हेवज्रसाधनोपायिका)
ऐशान्यां पुक्कसीं पुँ-कारजां नीलवर्णां जम्भलकर्मप्रबोधनाय मानविशोधनार्थं च दक्षिणे सिंहधरां मारसैन्यविदारणाय। वामे परशुधरां अशेषेण द्वन्द्वच्छेदनाय। यमाक्रान्तां पृथ्वीधातुस्वभावां चिन्तयेत्। (हे० प्र०)
4. अग्निकोणे शँ-कारजनितां शवरीं शुक्लां, दक्षिणभुजे भिक्षुशृगालं वा अवसव्येन खिङ्गिरिकां वित्तनाय-कारूढा अब्धातुस्वभावां पश्येत्। (हेवज्रसाधनोपायिका)
आग्नेय्यां शँ-कारजां शवरीं शुक्लां शान्तसत्त्वप्रबोधनाय मानविशोधनार्थं च दक्षिणे भिक्षुधरां आदर्शादि पञ्चज्ञानप्रबोधनाय। वामे खिङ्गिरिकाधरां अद्वैतज्ञानावबोधनाय। कुबेरारूढां अब्धातुस्वभावां पश्येत्। (हे० प्र०)

नैऋत्य में स्तब्ध सत्त्वों के प्रबोधन के लिए तथा स्तम्भन की सिद्धि प्रसाधन के लिए लै-कार से उद्धूत आकाश सदृश श्याम चण्डाली है। किञ्चिद् विचिकित्सा मात्र के छेदन के लिए दायें हाथ में चक्र धारण किये हुए तथा अज्ञान के मूलोच्छेद के लिए बायें हाथ में लाङ्गल धारण किये हुए, उसे राक्षसाक्रान्त के तेजधातु के स्वभाव में देखना चाहिए¹।

वायव्य में विश्वार्थप्रतिपादन के लिए तथा क्रूराशयजनों के प्रबोधन के लिए डै-कार से उद्धूत विश्ववर्ण डोम्बिनी है। अभेद्यज्ञान के प्रतिपादन के लिए दायें हाथ में ज्वलित वज्र धारण किये हुए तथा अशेष दुष्टों के तर्जन के लिए बायें हाथ के द्वारा तर्जनी मुद्रा धारण किये हुए, उसे वैमचित्र पर समारूढ वायुधातु के स्वभाव में चिन्तन करना चाहिए²।

ज्ञानमुद्रा पक्ष में नैरात्म्या का भी उत्सर्जन कर भट्टारक में प्रवेश करते हुए चिन्तन करना चाहिए। उसके उत्सर्ग के बाद प्रवेश ज्ञान के लक्षण द्वारा उसी प्रकार गौरी आदि अन्यो के उत्सर्ग (विसर्जन) तथा प्रवेश को भी जान लेना चाहिए। इस तरह इनके द्वारा जितने अंगन्यास हैं उतनी देवियाँ उद्धूत होती हैं³। ये सभी रक्तवर्तुल त्रिनेत्र, ऊर्ध्वपिङ्गलकेश, दंष्ट्राकरालवदन, नग्न तथा पञ्चमुद्रायुक्त, अर्द्धपर्यङ्क ताण्डवमुद्रा में अवस्थित चन्द्रासनस्थ, रौद्री 16 वर्ष की आयु वाली हैं। इनको बोधिचित्तोत्सर्ग संभूत सम्यक् मार्ग के द्वारा भगवान् के साथ कामेच्छा संपन्न देखना चाहिए⁴।

1. नैऋत्यकोणे लै-कारजां चण्डालीं नभोपमां, दक्षिणे चक्रधरां वामे लाङ्गलहस्ताम्, राक्षसाक्रान्तां तेजोधातु-स्वभावां पश्येत्। (हेवज्रसाधनोपायिका)
नैऋत्यां चण्डालीं चै-कारजां नभःश्यामां स्तब्धसत्त्वप्रबोधनाय स्तम्भनप्रसाधनार्थं दक्षिणे चक्रधरां किञ्चिदज्ञानमात्रच्छेदनाय वामे लाङ्गलधरां अज्ञानमूलोन्मूलनार्थं राक्षसाक्रान्तां तेजोधातुस्वभावां पश्येत्।
(हे० प्र०)
2. वायव्यकोणे डै-कारजां डोम्बिनीं कर्चूरवर्णां दक्षिणकरे वज्रं, वामे तर्जनी वैमचित्रिसमारूढां वायुधातु-स्वरूपां पश्येत्। (हेवज्रसाधनोपायिका)
वायव्यां डोम्बिनीं डै-कारजां विश्ववर्णां विश्वार्थप्रतिपादनाय क्रूराशयजनप्रबोधनाय च दक्षिणे ज्वलद्गजधरां अभेद्यज्ञानप्रतिपादनाय वामे तर्जनीधरां अशेषदुष्टतर्जनाय वैमचित्रिसमारूढां वायुधातुस्वभावां चिन्तयेत्।
(हे० प्र०)
3. ज्ञानमुद्रापक्षे तु नैरात्मापुत्सृज्य भट्टारके प्रविष्टां चिन्तयेत्। तथा आसनाभावात् खेचरीं च। तथाऽन्यासामप्य-परगौर्यादीनामुत्सर्गानुप्रवेशौ ज्ञातव्यौ। एतेनैतदुक्तं भवति। यावानङ्गन्यासः तावान् समुद्भवः। (हे० प्र०)
4. एताः सर्वास्त्रिनेत्रा दंष्ट्राकरालवदनाः ऊर्ध्वपिङ्गलकेशाः नग्नाः पञ्चमुद्रोपेताः अर्द्धपर्यङ्कताण्डवस्थिता बोधिचित्तोत्सर्गसंभूता भावनीयाः। (हेवज्रसाधनोपायिका)

अब गौरी आदि के अष्टासन की विशुद्धि कही जा रही है—राग, विद्या, स्रवण, पान, भोजन, निद्रा, तर्क श्रद्धा के प्रति अत्यन्त अभिनिवेश के छेदन हेतु ब्रह्मादि से लेकर वैमचित्रपर्यन्त अष्ट आसनों (न्यासों) को कहा गया है।

इस प्रकार यथा निर्दिष्ट मण्डलचक्रान्तर्गत मातृगण द्वारा परिवेष्टित, अपने काय से विनिर्गत रश्मि समूह से नभस्तल व्याप्त करते हुए भगवान् की सम्यक् विभावना करके ज्ञानचक्र का आकर्षण करना चाहिए¹। ज्ञान समयरूपी हृत्पद्म में हूँ से उद्भूत कपालस्थ सूर्यनील हूँ-कार की रश्मि (किरण) रूपी अंकुशों के द्वारा अनन्त लोकधातुओं को अवभासित कर ज्ञानचक्र को भी सामने (पुरतः) आकर्षित कर चिन्तन करते हुए अर्घ, पाद्य आदि के अर्पण द्वारा संपूजित कर स्तुति करके—जः हूँ वँ होः इस मन्त्र के द्वारा आकर्षण प्रवेश, बन्धन एवं तोषण करना चाहिए। इसके बाद ॐ वज्रगौरी आकर्षय जः। ॐ वज्र चौरी प्रवेशय हूँ। ॐ वज्रवेतालि बन्धय वँ। ॐ वज्र घस्मरि तोषय हो—यथावत् मार्ग से ज्ञानचक्र को समयचक्र में दूध में पानी के सदृश प्रवेश कर इसके द्वारा श्रीहेरुक का हंकार दृढ़ करना चाहिए। यद्यपि आत्म (स्व) समय के सदृश ज्ञानसमय है तथापि ज्ञानचक्र के प्रवेश के अनन्तर ज्ञानसमय का एक मुख दो हाथ वाला रक्तवर्ण स्व आभा (प्रभा) युक्त प्रज्ञा के रूप में अपने हृदय में चिन्तन करना चाहिए। अपने हृदय में समाधिनाथ का भी चिन्तन करें। उसी प्रकार भगवती का भी—ज्ञानसमय के हृत्पद्म में स्थित अं-कार से उद्भूत कर्तरी में अवस्थित चन्द्रस्थ में अं-कार को देखना चाहिए। उसी प्रकार अष्टयोगिनियों को भी ज्ञानसमय के हृत्पद्म एवं चन्द्र में अपने-अपने बीज से जनित चिह्नों

एताः सर्वास्त्रिनेत्रा ऊर्द्धपिंगलकेशाः दंष्ट्राकरालवदनाः पञ्चमुद्रोपेता नग्नाः अर्द्धपर्यङ्कताण्डवस्था रौद्राद्विरष्टवर्षाकाराश्चन्द्रासना बोधिचित्तोत्सर्गसंभूता भगवतः कामेच्छासंपन्नाः। (हे० प्र०)

1. एवं यथादृष्टमण्डलचक्रान्तर्गतम्। विद्यागणपरिवेष्टितं स्वरश्मिसमूहव्याप्तनभस्तलं सम्यग्विभाव्य स्वहृदयस्थस्वबीजाद्रश्मीन्निश्चार्य च रश्मयः समस्तत्रैधातुकमभिव्याप्य तत्रैवाक्षरं प्रवेशयेत्। पुनर्गगनकुहरे स्फारयित्वा ज्ञानचक्रमाकृष्याग्रतः स्फुटीकृत्य संपूज्य संस्तुत्य चानीय स्वसमयचक्रे प्रवेशयेत्। प्रवेशैकी-कृत्य देवताहंकारमुद्बहन् स्वकायनिर्गतरश्मिसमूहात्तथागतबोधिसत्त्वविद्यादेवतीक्रोधादिपतिः पञ्चामृत-परिपूर्णकलशैः संपूज्यमानं चात्मानं भावयेत्। (हेवज्रसाधनोपायिका)

एवं यथानिर्दिष्टमण्डलचक्रान्तर्गत्मातृगणपरिवेष्टितं स्वकायविनिर्गतस्वरश्मिसमूहव्याप्तनभस्तलं भगवन्तं सम्यग्विभाव्य ज्ञानचक्राकर्षणं कुर्यात्। ज्ञानसमयमयहृत्पद् हूँ भवकपालस्थ सूर्यनील हूँ-कार किरणाङ्कुशैरनन्तलोकधातूनवभास्य ज्ञानचक्रं चानीय पुरतो विचिन्त्य अर्घपाद्यादिकं दत्त्वा संपूज्य संस्तुत्य च जः हूँ वँ होः इत्यनेनाकर्षणं प्रवेशनबन्धनतोषणानि कुर्यात्। (हे० प्र०)

को देखना चाहिए। पुनः चन्द्र में स्थित उनके बीज द्वारा अधिष्ठितों को देखना चाहिए। यह ज्ञानचक्र है¹।

ज्ञानचक्र एवं समयचक्र के एकीकरण के समय अपने काय से विनिर्गत रश्मियों के द्वारा आकर्षित हेरुकरूप प्राप्त मण्डल पाँच तथागतों को वज्रयोगिनी महाबोधिसत्त्व एवं क्रोधी लोगों को भी आकाश में सम्मुख देखकर स्तुति एवं पूजा करके “अभिषिञ्चन्तु मां सर्वतथागताः” के द्वारा स्तुति पूजा कर अभिषेक हेतु प्रार्थना करनी चाहिए। वे पाँच तथागत पञ्चामृत से पूर्ण विजयकलश आदि के द्वारा—“जिस प्रकार जातमात्र के द्वारा समस्त तथागतों का स्नान कराया जाता है, उसी प्रकार साधक भी देव के विशुद्ध जल से स्नान करता हूँ” ऐसा कहते हुए स्नान करना चाहिए। यह अभिषेक है²।

-
1. यद्यपि आत्मसमयवत् ज्ञानसमयः, तथापि ज्ञानचक्रप्रवेशानन्तरं द्विभुजैकमुखं रक्तं स्वामप्रज्ञाज्ञानसमयं स्वहृदये चिन्तयेत्। तस्य हृदये समाधिनाथश्च। ततो भगवत्याश्च तथा ज्ञानसमयहृत्पद्मस्थ अँ-कारजं कर्त्रिकावस्थितचन्द्रस्थ अँ-कारं पश्येत्। अष्टयोगिनीनां ज्ञानसमयहृत्पद्मे चन्द्रेषु स्वस्वबीजजनितचिह्नानि पुनश्चन्द्रस्थतत्तद्वीजाधिष्ठितां पश्येत् ज्ञानचक्रम्। (हे० प्र०)
 2. ज्ञानचक्रसमयचक्रयोरेकीकरणसमये स्वकायविनिर्गतरश्मिभिराकर्षितान् पञ्चतथागतान् श्रीहेरुकरूपपत्रान् समण्डलात्मकान् वज्रयोगिनो महाबोधिसत्त्वक्रोधादिश्चाकाशे संमुखं दृष्ट्वा संपूज्य संस्तुत्य च अभिषेकं प्रार्थयेत्। “अभिषिञ्चन्तु मां सर्वतथागताः” इति। ते च पञ्चतथागताः पञ्चामृतपूर्णविजयकलशादिभिः। यथा हि जातमात्रेण स्नापिताः सर्वतथागताः तथाहं स्नापयित्वा विशुद्धं दिव्येन वारिणा। इत्यभिषेकः। (हे० प्र०)

तन्त्र की सामान्य एवं संक्षिप्त व्यवस्था (5)

—छेरिंग डोलकर—

[धीः के पूर्व अंकों में आचार्य बुस्तोन रचित “सामान्य एवं संक्षिप्त तन्त्रोपन्यास रत्ननिधि-द्वारोद्घाटक कुञ्जी” नामक ग्रन्थ का क्रमशः हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है। प्रस्तुत अंक में तन्त्र के भेद सम्बन्धी परिच्छेद से तन्त्र के चार भेदों का निर्णय, चार तन्त्रों की निर्णीत संख्या का निराकरण तत्पश्चात् तन्त्र का पर्याय एवं निरुक्ति और तन्त्रों के दो वर्गों के संग्रह विषयक अंश का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है।]

III. तन्त्र के चार भेदों का निर्णय

इसके दो भेद किये जाते हैं— 1. तैर्थिकों को अनुग्रह करने की अपेक्षा से और 2. चार बौद्ध सिद्धान्तों की अपेक्षा से।

III.I. तैर्थिकों को अनुग्रह करने की अपेक्षा से

मोह से युक्त ब्रह्मा के अनुयायी शुचि, होम, स्नान और उपवास आदि दुष्कर चर्याओं को धर्म मानने और उन पर अभिनिवेश रखने वालों को विनीत करने के लिए क्रिया तन्त्र की देशना दी है। द्वेष से युक्त विष्णु के अनुयायी (जो) हिंसा को धर्म मानते हैं, उन्हें विनीत करने के लिए अधिक रौद्र कर्मों को दर्शाने वाले चर्यातन्त्र की देशना दी है। रागी महेश्वर को देवता स्वीकार करने वाले, (जो) काम, पाँच मांस, पञ्चामृत का भक्षण, श्वान एवं गो व्रतचर्या आदि द्वारा मुक्ति मानते हैं, उन्हें विनीत करने के लिए अनुत्तरमहायोगतन्त्र की देशना दी है। पुनः समान प्रत्यय के बल से (उपर्युक्त) तीनों (देवों) के अनुयायी, जिन्हें उन तीनों (देवों) में से जिस किसी की भी देशना मिले, उन्हीं के अनुसार शिक्षा लेने वालों को विनीत करने के लिए योगतन्त्र की देशना दी है। तत्त्वसंग्रह (तो० 479) के प्रथम परिच्छेद में रागी व्यक्ति को अनुगृहीत करने के लिए रागरूपी देवता को, द्वितीय परिच्छेद में द्वेष युक्त व्यक्ति को अनुगृहीत करने के लिए क्रोध रूपी देवता को, तृतीय परिच्छेद में मोह से युक्त व्यक्ति को अनुगृहीत करने के लिए विश्वरूपी देवता को तथा चतुर्थ परिच्छेद में मात्सर्य से युक्त व्यक्ति को अनुगृहीत करने के लिए पौष्टिक देवताओं को कहा है। यह मत सुभूतिपाल और आनन्दगर्भ आदि का है, ऐसा जेत्सुन त्से मो का कहना है, लेकिन मेरे दृष्टिपथ में यह विषय (मत) नहीं आया।

III.II. चार बौद्ध सिद्धान्तों की अपेक्षा से

बौद्ध सिद्धान्त चार प्रकार के हैं। वैभाषिक बाह्यार्थ वस्तुओं को सत् और आत्मा को अनिर्वचनीय मानते हैं। तदनुसार सामने पटचित्र को प्रसार कर ज्ञानसत्त्व का आवाहन कर उसके हृदय में मन्त्र का न्यास कर फिर आत्म-स्नान एवं शोधन (पूर्वक) मन्त्रजाप करते हुए सिद्धि ग्रहण करने वालों के लिए क्रियातन्त्र कहा है। सौत्रान्तिक सभी (वस्तुओं) को ज्ञान रूप मानते हुए भी ग्राह्य और ग्राहक की सत्ता को भी मानते हैं। इस प्रकार समयसत्त्व के रूप में स्वयं को उत्पन्न कर सामने ज्ञानसत्त्व का आवाहन कर, उसके हृदय में मन्त्र का न्यास कर (मन्त्र) जाप करते हुए (अपने) मित्रवत् इष्टदेव से सिद्धि ग्रहण करने वालों के लिए चर्यातन्त्र को कहा है। चित्तमात्रता (विज्ञानवाद) में सभी बाह्यार्थ (वस्तु) असत् होने पर भी अद्वय ग्राह्य-ग्राहक की स्वसंवेद्य सत्ता मानते हैं। इस प्रकार स्वयं को समयसत्त्व के रूप में उत्पन्न कर (उसमें) ज्ञानदेव को प्रवेश कराकर मन्त्रजाप के अन्त में ज्ञानसत्त्व का विसर्जन करना योगतन्त्र है। माध्यमिक संवृत्तितः ग्राह्य-ग्राहक दोनों को आभास स्वरूप मानते हुए भी परमार्थतः कुछ भी सत् नहीं स्वीकारते। इस प्रकार (स्वयं को) समयसत्त्व के रूप में उत्पन्न कर (उसमें) ज्ञानदेव को प्रवेश कराकर विसर्जन विधि का (प्रयोग) न करना महायोगतन्त्र है। चार विभिन्न उत्पन्नक्रम विधि से तन्त्रों के चार भेद हुए हैं। यह नागार्जुन आदि का मत है, ऐसा कुछ भोट आचार्य [त्से मो] स्वीकार करते हैं। परन्तु मैंने इस प्रकार के ज्ञान का (स्रोत) नहीं देखा।

IV. चारों तन्त्रों की निर्णीत संख्या का निराकरण

यदि तन्त्रों की संख्या चार ही है तो त्रैलोक्यविजयनाम वृत्ति (तो० 2509) में कहा है—“द्वयतन्त्र के साथ तीन हैं, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। वह भी दो प्रकार के देव होने से द्वयतन्त्र अलग से नहीं हैं।” इस प्रकार चर्यातन्त्र को अलग से नहीं कहा है। (ऐसी स्थिति में) उससे विपरीत हो जायेगा कहें तो (यहाँ) उस आचार्य ने (इसे) दो देवयोग से अभिन्न माना है। परन्तु क्रिया और योग दोनों का आंशिक रूप (चर्या से) युक्त होने के कारण (चर्या को) अलग करने पर भी कोई दोष नहीं है। वज्रामृततन्त्रटीका (तो० 1650) में कहा है—“सभी तन्त्र क्रियातन्त्र, योगतन्त्र और गुह्यतन्त्र हैं।” इस कथन से विपरीत हो जायेगा ऐसा कहें तो (भी) दोष नहीं होगा, क्योंकि बाह्य क्रियाओं में पराशरणों के लिये क्रिया और चर्या दोनों को क्रियातन्त्र में (ही) संगृहीत कर दर्शाया गया है और आभ्यन्तर

अनिमित्त समाधि का गौण और मुख्य की दृष्टि से दो भेद किये गये हैं। कुछ लोगों का कहना है कि आचार्य बुद्धगुह्य ने “योग, चर्या और क्रिया के भेद से तन्त्र के तीन भेद किये हैं”, लेकिन, मैंने इसका स्रोत नहीं देखा। फिर भी यह कथन सत्य हो तो योग और महायोग (तन्त्र) दोनों में आध्यन्तर (अध्यात्म) चित्त समाधि को बताने में अन्तर नहीं है। (अतः) दोनों एक में ही संगृहीत होने से दोष नहीं है। **तन्त्रार्थविलोकन** में कहा है—“योग, चर्या और क्रियातन्त्र, उसी प्रकार पारमितानय”। इस प्रकार (यहाँ भी) पूर्व की तरह तन्त्र के तीन ही भेद बतलाये गये हैं। पुनश्च **ज्ञानवज्रसमुच्चयतन्त्र** (तो० 450) में तन्त्र के पाँच भेद बतलाए गये हैं। यह भी (उपर्युक्त से) विपरीत हो जायेगा कहे तो इसमें दोष नहीं आवेगा, क्योंकि क्रियातन्त्र को परम सिद्धि साधना प्रधान क्रियातन्त्र तथा साधारण सिद्धि साधना प्रधान कल्पतन्त्र भेद से दो में विभाजित किया गया है। किन्तु दोनों का स्वभाव क्रियातन्त्र में ही संगृहीत हो जाता है। **कालचक्र (तन्त्र)** के चौवालीसवें श्लोक की टीका में कहा है—“प्रथमप्रहराभिसन्धौ हसिततन्त्रम्”¹ अर्थात् प्रथम प्रहर की अभिसन्धि में हसित तन्त्र है, इत्यादि से हास, ईक्षण, स्तनस्पर्श और हस्तग्रहण (पाण्यासि) से चार तन्त्र बतलाए गये हैं। अतः अर्थ की दृष्टि से द्वन्द्वालिङ्गन तन्त्र कहने से तन्त्र पाँच प्रकार के होते हैं। **डाकार्णवतन्त्र** (तो० 372) में कहा है—“भगों में पाँच तन्त्रों को, क्रिया आदि में (और) अनुत्तर अन्त में, ऐसी स्थिति क्यों है?” आचार्य शान्ति (रत्नाकरशान्ति) ने **त्रियानव्यवस्था नाम** (तो० 3712) में कहा है—“गम्भीर और उदार यान तो, क्रिया, चर्या, योग, महायोग और अनुत्तरयोग; ये पाँच प्रकार के होते हैं।” आचार्य अभय (अभयाकरगुप्त) ने भी कहा है। इस मत को मानने वाले अन्य भी बहुत से पण्डित हैं। इसमें दोष नहीं है, क्योंकि उपाय महायोगतन्त्र में छोमा (संकेत) और शब्द (अक्षर) का गम्भीर, अलौकिक और अद्भुत उपाय निर्दिष्ट होने से अलग से भेद किया है। इस प्रकार दोनों (तन्त्रों) में प्रज्ञा-उपाय अभिन्न योग की गम्भीरता को प्रमुखता से बतलाए होने से, एक ही महायोगतन्त्र में संगृहीत करने पर भी विपरीत (भिन्न) नहीं होगा। पुनः **लघुसंवरतन्त्र** (तो० 368) में कहा है—

सूत्रक्रियाभिचर्याणां योगगुह्यं तु भेदतः ।

सत्त्वावतारशीलं तु तत्र तत्र रता इव ।²

1. विमलप्रभा, III, पृ० 32

2. श्रीचक्रसंवरतन्त्र, 51.22 (भाग-2, पृ० 595)।

अर्थात् सूत्र, क्रिया, चर्या, योग और गुह्यान्त भेद से विभिन्न सत्त्वाशय वालों को वह वह (तन्त्र) प्रिय हैं। इसकी टीका में आचार्य लावापा¹ (तो० 1401) ने कहा है—“सूत्र, कल्पतन्त्र, क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र, योगगुह्यान्ततन्त्र और योगगुह्यान्ततन्त्र (भेद से) छह हैं”, ऐसा कहा जाता है, परन्तु इनके द्वारा रचित साधननिदान (श्रीचक्रसंवरनामपञ्जिका) (तो० 1401) में इस शब्द की व्याख्या नहीं है। (वज्र)पञ्जर (तो० 419) में कहा है—“योगिनीतन्त्र तो छठे तन्त्र के रूप में प्रसिद्ध है”। इस प्रकार छठे तन्त्र के रूप में प्रसिद्ध है कहने से मातृतन्त्र का महत्त्व या अद्भुत छोमा (संकेत) अर्थवाचक है। अतः (तन्त्रों) को चार ही प्रकार में संगृहीत न होने का दोष नहीं लगेगा। पुनः, अतीश ने बोधिपथप्रदीपटीका (तो० 3948) में कहा है—

“क्रिया, चर्या आदि तन्त्र से अर्थात् क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, कल्पतन्त्र, द्वयतन्त्र, योगतन्त्र, महायोगतन्त्र और अनुत्तरयोगतन्त्र है”।

इस प्रकार उपर्युक्त सात तन्त्रों से विरुद्ध है कहें तो भी दोष नहीं लगेगा, क्योंकि कल्पतन्त्र, सर्वकल्पसमुच्चय आदि में गुलिका, अञ्जन सिद्धि आदि को सूक्ष्म साधन-विधियों की बहुलता से निर्देश होने से पृथक् (तन्त्र) के रूप में दर्शाया गया है। परन्तु स्वभावतः ये क्रियातन्त्र में ही सम्मिलित हैं। द्वयतन्त्रों में परिगणित मायाजाल और पद्मनर्तेश्वर आदि तन्त्र यथायोग्य चर्यातन्त्र अथवा योगतन्त्र में संगृहीत होते हैं।

II. तन्त्र का पर्याय और निरुक्ति

पर्याय और निरुक्ति के दो भेद हैं, यथा—I. सामान्य नाम पर्याय और निरुक्ति तथा II. प्रत्येक विशिष्ट तन्त्रों की निरुक्ति।

II.I. सामान्य नाम पर्याय और निरुक्ति

वज्रयान, मन्त्र(यान), फलयान, विद्याधरपिटक(यान) और तन्त्र(यान) ये नाम पर्याय हैं। इनकी निरुक्ति इस प्रकार है—

वज्रयान—हेतु पारमितानय और फल मन्त्रनय दोनों प्रज्ञोपाय (रूप में) अभेद्य ही वज्र है। उसमें जिसके द्वारा गमन करता है। अर्थात् जिसके द्वारा बुद्धत्व की ओर गमन करता है, वह यान है। अतः यह वज्रयान है। विमलप्रभा² में कहा है—“वज्रमभेद्यमच्छेद्यं

1. साधननिदान-श्रीचक्रसंवरनामपञ्जिका।

2. विमलप्रभा-I, पृ० 163

महदिति। तदेव यानं वज्रयानम्। मन्त्रनयं पारमितानयं फलहेत्वात्मकम् एकलोलीभूतम्”। अर्थात् अभेद्य अच्छेद्य होने से वज्र है, वही यान होने से वज्रयान है। (इसमें) मन्त्रनय और पारमितानय फल और हेतु के रूप में एकलोलीभूत हैं। राग, द्वेष और मोह का शोधन करने से (भी) वज्रयान है। अर्थात् काय, वाक्, चित्त तीनों अभेद्य, अच्छेद्य लक्षणात्मक यान होने से वज्रयान है। **गुह्यसमाज** (तो० 442) में कहा है—“रागद्वेषमोहवज्र वज्रयानप्रदेशक”¹। अर्थात् महाराग, महाद्वेष और महामोह को वज्रयान के रूप में देशना देने वाले। पुनश्च—“कायवाक्चित्तं संशुद्ध.....वज्रकाय (यानं) नमो नमः”²। अर्थात् अत्यन्त शुद्ध काय, वाक् और चित्त (स्वरूप) वज्रकाय को नमस्कार। इसकी व्याख्या **प्रदीपोद्योतन** में भी ऐसा ही बतलाया है।

मन्त्र—(मन्त्र) गुह्यरूप से गुप्त रखकर सिद्ध होता है। अपात्र (अयोग्य) लोगों का विषय नहीं होने से (यह) गुह्य है और मन्त्र और मुद्रा के द्वारा सिद्धि की साधना की जाती है। मन की रक्षा (त्राण) करने से भी इसे मन्त्र कहा जाता है। मन्त्र (शब्द) में मन् का अर्थ चित्त है और त्र त्राणार्थक। जैसे **गुह्यसमाजोत्तर** (तो० 442) में कहा है—

प्रतीत्योत्पद्यते यद्यदिन्द्रियैर्विषयैर्मनः ।
तन्मनो मननं ख्यातं कारक(त्रकारस्)त्राणनार्थतः ।
लोकाचारविनिर्मुक्तं यदुक्तं समयसंवरम् ।
पालनं सर्ववज्रैस्तु मन्त्रचर्येति कथ्यते ॥³

अर्थात् इन्द्रियों और विषयों की अपेक्षा से जो-जो मन उत्पन्न होते हैं, वह मन मननात्मक हैं और त्रकार त्राणार्थक। लोकाचार से विनिर्मुक्त जो समय और संवर है, सभी वज्री द्वारा उसका पालन मन्त्रचर्या कहा गया है। (यहाँ) मन शब्द का मन् धातु ज्ञानार्थक है। इसका अर्थ तत्त्व को जानने वाला प्रज्ञा है। ‘त्र’ तो लोक की रक्षा या पालन करने वाली महाकरुणा है। इन दोनों की अभिन्नता ही मन्त्र है। इससे काय, वाक्, चित्त तीनों की रक्षा होती है। **कालचक्रमूलतन्त्र** में कहा है—

1. गुह्यसमाज, 8.2
2. गुह्यसमाज - 5.11
3. गुह्यसमाजतन्त्र 18. 69-71

कायवाक्चित्तधातूनां त्राणभूतो यतस्ततः ।

मन्त्रार्थो मन्त्रशब्देन शून्यताज्ञानमक्षरम् ॥

पुण्यज्ञानमयो मन्त्रः शून्यताकरुणात्मकः ॥

अर्थात् काय-वाक्-चित्त धातुओं का जिससे रक्षा होती है, उस मन्त्रार्थक मन्त्रशब्द से शून्यताज्ञानाक्षर को कहा है। क्योंकि पुण्यज्ञान से उत्पन्न या स्वभाव वाला मन्त्र शून्यता करुणात्मक है। अन्यत्र भी कहा है—

“सांसारिक दुःखों से बिना किसी कष्ट के शीघ्र पार कराने से, श्रावक आदि हीनबुद्धि वालों को त्रसित करने से, बुद्ध और बोधिसत्त्वों द्वारा स्तुति, सत्कार और प्रशंसा करने से तथा तत्त्व के अर्थ का अविपर्यास निर्देश होने से मन्त्र कहलाता है।”

जैसे श्रद्धाकर (वर्मा) ने योगानुत्तरतन्त्रार्थावतार (तो० 3713) में उद्धृत किया है—“गुह्य रूप से सिद्ध होने के कारण मन्त्र (गुह्य) है, (इससे) वज्रयान में महान् फल (प्राप्त) होता है।”

फलयान—बाह्य लक्षण को हेतुयान तथा अध्यात्म मन्त्र को फलयान कहा जाता है। सर्वाकारवरोपेत शून्यता हेतु है। उसे पारमितायान द्वारा प्रमुखता से बतलाने से हेतु भूमि कहा गया है। अनक्षर महासुख फल है और इसे मन्त्रयान द्वारा प्रमुखता से बतलाये जाने से फलयान कहा गया है। **सेकोद्देश** में कहा है—

शून्यता बिम्बधृग्हेतुः करुणाक्षरधृक् फलम् ।

शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तं तदुच्यते ॥२

अर्थात् शून्यता बिम्ब को धारण करना हेतु है, अक्षर करुणा को धारण करना फल है, शून्यता और करुणा की अभिन्नता को बोधिचित्त कहा है। अन्यच्च योगानुत्तरतन्त्रार्थावतारसंग्रह (तो० 3713) में कहा है—

“काय, संभोग, स्थान और लीला (चर्या) (इन सभी) में परिशुद्धिपूर्वक प्रवेश करना फल है। क्योंकि समस्त मार्गों का फल महामुद्रासिद्धि है। यही

1. उद्धृत अमृतकणिका नामसङ्गीति टिप्पणी, पृ० 88

2. सेकोद्देश, धी: 28, पृ० 164, श्लोक-147

अहिंसापूर्वक निर्विघ्न सम्यक् अर्थ की प्राप्ति कराने से वज्र है। (अतः) यही वज्रयान भी है। क्योंकि शीघ्रता एवं अदुष्करता युक्त मार्ग होने से शीघ्र मनसिकार होता है।”

विद्याधरपिटक—विद्याधरपिटक का अर्थ **सुबाहुपरिपृच्छातन्त्रटीका** [बुद्धगुह्य विरचित] (तो० 2671) में कहा है—“विद्याधर पिटक का अर्थ है, विद्यामन्त्र धारियों की शिक्षा का आधार और सिद्धान्त की दृष्टि से देशना अर्थात् मन्त्र चर्या विधि से इसी जन्म में सात विद्याधर फलों को प्राप्त कराने के कारण विद्याधर पिटक कहलाता है।”

इन्द्रनाल रचित **समायोग टीका** (तो० 1659) में कहा है—“इस जन्म में विद्याधर फल प्राप्त कर, उसके द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त करता है।” इसे **मूलतन्त्र** [चतुस्त्रिंशत्-साहस्रिका] में भी कहा है—“इसी जन्म में विद्याधर प्राप्त करता है, उससे महासुख की सिद्धि होती है।” और भी—

“सात प्रकार के विद्याधरों से स्वज्ञान और स्थान का शोधन करने से;
गुह्यमन्त्र की अनुरूपता की विशिष्टता से आशय और बुद्धि के अर्थ अनुरूप
निर्देश करने से विमुक्ति अनास्रव बुद्धत्व में पारंगत होगा।

समन्तप्रभा और पद्मावती, अक्षरचक्र वज्रधर,
ज्ञान गुरु की भूमि का अतिक्रम कर, सदा अनास्रव एवं सुख में स्थित रहें।”

ऐसा उद्धरण सहित कहा गया है।

तन्त्र—इसके पश्चात् तन्त्र शब्द की निरुक्ति कही जा रही है। अक्षरों के लोप और योग की निरुक्ति से तन्त्र (शब्द) में चित्तन (तन्) का अर्थ चित्त (मन) और ‘त्र’ का अर्थ रक्षा करना है। सरह विरचित **श्रीबुद्धकपालतन्त्रपञ्जिका ज्ञानवती** (तो० 1652) में कहा है—“उससे मनको विकल्पों से रक्षा करने के कारण तन्त्र कहा गया है। तन्त्रों के समूह या कुलों के अन्तर्गत होने से तन्त्र वर्ग कहा गया है। पुनः इसे उपाययान या महायान से भी महान् कहा गया है।”

अन्तद्वयनिराकरण (तो० 3714) में कहा है—“इस प्रकार इन ग्यारह कुशल उपायों से विशिष्ट होने के कारण यह उपाययान कहलाता है और (इसे) महायान से भी महान् कहा जाता है।”

II.II. प्रत्येक विशिष्ट तन्त्रों की निरुक्ति

स्नान एवं शुद्धि आदि बाह्य क्रियाओं का प्रमुखता से निर्देश होने के कारण क्रियातन्त्र कहा गया है। हेवज्रपिण्डार्थ टीका (तो० 1180) में कहा है—“तत्त्व की भावना में कम सामर्थ्यवान् और सनिमित्त चर्या में अभिरुचि (अनुराग) रखने वालों के लिए बाह्य चर्याओं को प्रमुखता से बतलाने वाला वज्रोष्णीष क्रियातन्त्र कहा गया है”।

बाह्य काय, वाक् और अध्यात्म चित्त की समाधि, (इन) दोनों का समान चर्या बतलाने वाला चर्यातन्त्र अथवा व्रतचर्या को प्रमुखता से बतलाने वाला तन्त्र चर्यातन्त्र है। प्रदीपोद्योतन में कहा है—“मुख्य रूप से व्रत, ऋद्धि और सिद्धि आदि वाला तन्त्र चर्यातन्त्र है”।

पुनः वज्रहृदयालङ्कारतन्त्र (तो० 451) में कहा है—“क्रिया, द्वय और योगतन्त्र की अभिसन्धि को बताने वाला (अर्थ) वैसा नहीं है।” ऐसा द्वयतन्त्र बतलाये होने से, समाधि योग प्रमुखता से निर्देश होने पर भी बाह्य क्रियाओं में अधिमुक्ति रखने वाले विनेय जनों को अनुगृहीत करने के लिए क्रियातन्त्र की चर्याओं का निर्देश होने से द्वयतन्त्र कहा है। वज्रपाण्यभिषेकतन्त्र (तो० 496) में कहा है—“क्रिया और योग की अभिन्नता को योग से युक्त मण्डल कहा है”। हेवज्रपिण्डार्थ टीका (तो० 1180) में कहा है—“जो क्रिया विशेष पर अधिमुक्ति रखते हुए भी प्रज्ञा और उपाय की उदार (विस्तार) चर्या से युक्त आध्यात्मिकता को भी न त्याग कर रत रहते हैं; उनमें क्रिया और योग दोनों का समान भाग होने से द्वयतन्त्र कहा है। जिसमें वज्रपाण्यभिषेकतन्त्र आदि आते हैं। आभ्यन्तर प्रज्ञा और उपाययोग की भावना की प्रधानता होने से योगतन्त्र कहा है। तत्त्वालोका में कहा है—“इस तन्त्र में (आन्तर)भावना (साधना) प्रमुख होती है और अभिषेकादि विभिन्न प्रकार से ग्रन्थित (गुम्फित) होने से योगतन्त्र कहा जाता है।”

पुनः, प्रज्ञा एवं उपाय का अभिन्न प्रयोग होने से योग कहा है। सभी तन्त्रों से उत्तर (श्रेष्ठ) होने से महान् है। इससे आगे कोई अन्य तन्त्र नहीं होने से यह अनुत्तर है। वज्रपञ्जरटीका (तो० 1196) में कहा है—“सभी तन्त्रों से श्रेष्ठ (उत्तर) होने का तात्पर्य है—अनुत्तर योगतन्त्र, (अर्थात्) क्रिया, चर्या आदि तन्त्रों से श्रेष्ठ”।

III. दो तन्त्र वर्गों में संग्रह

इस प्रकार (ऊपर) बतलाये गये चार या पाँच प्रकार के तन्त्रों को संग्रह करें तो ये बाह्य और आभ्यन्तर दो में संगृहीत हो जाते हैं। वज्रहृदयालङ्कारतन्त्र (तो० 451) में कहा है—

बाह्य और आभ्यन्तर (अध्यात्म) भेद को जानने वाले को तन्त्र का भेद जानना चाहिए।

गुरु से आभ्यन्तर (अध्यात्म) निर्देश सम्यक्तया प्राप्त कर साधना करे।

आभ्यन्तर और बाह्य का भेद भी वहीं (वज्रहृदयालङ्कार में) कहा है—

बाह्य निर्वृति (परावृत्ति) द्वय की विधि, गुह्य, प्रज्ञाज्ञान,
सम्पुट भेद विधि, बलि, वज्रजाप, उग्रसाधन विधि,
प्रतिष्ठा और मण्डल साधन (ये) दस गुह्य तत्त्व हैं।

मण्डल, समाधि, मुद्रा, गति, स्थिति, जाप; होम, पूजा,
कर्मयोग (प्रसर), प्रत्याहार का स्वरूप; ये दस बाह्य तत्त्व हैं।

इस प्रकार योगतन्त्र में दस तत्त्व कहे गये हैं। बाह्य दस तत्त्वों (के सम्बन्ध) में (यह) युक्ति है कि ये योगतन्त्र से निम्न (है, अतः) बाह्य है। दश क्रोध की तरह रक्षा मण्डल की भावना द्वारा निर्वृति (परावृत्ति), लिखित (चित्रित) रक्षा मण्डल द्वारा निर्वृति (परावृत्ति), गुह्य अभिषेक, प्रज्ञाज्ञान अभिषेक, सम्पुट भेद विधि से शत्रु मारण, बलि विधि, वज्रजाप, यदि सिद्धि प्राप्त नहीं हो तो उग्र विधि या हठयोग अर्थात् देव मारण विधि, प्रतिष्ठा और मण्डल साधन, इन्हें दस गुह्यतत्त्व कहा है। अतः इन्हें दर्शाने वाला तन्त्र गुह्य या आभ्यन्तर (अध्यात्म) तन्त्र होने के कारण अनुत्तरयोगतन्त्र आभ्यन्तर (अध्यात्म) मन्त्र (तन्त्र) है। आचार्य अभय¹ (अभयाकरगुप्त) ने कहा है—

“वज्रधर के बाह्य और आभ्यन्तर (अध्यात्म) वज्र की तरह, क्रमशः ग्रन्थित कर हृदय में धारण करें; मण्डल आदि विधियों को, शास्ता ने दो तन्त्र वर्गों में बतलाया है।”

1. वज्रावलिर्नाम मण्डलविधिसाधनम्, तो० 3140

इस प्रकार तन्त्र दो वर्गों में संगृहीत हैं। पुनः क्रिया और चर्यातन्त्र को बाह्यतन्त्र और योग और अनुत्तरयोगतन्त्र दोनों को आभ्यन्तर (अध्यात्म) तन्त्र माना गया है।

बाह्य और गुह्य यान तीन हैं, इसकी व्याख्या उपदेशमञ्जरी में कहा है—“बाह्य सद्धर्म तो क्रिया तन्त्र आदि और गुह्य तो योग तन्त्र आदि हैं”। इस पर भोट आचार्य [डोग् आर्यदेव] ने शास्ता (देशक), परिषद्, स्थान, पूजाद्रव्य, मार्ग और तत्त्व के भेद से छह (भेद) माने हैं।

शास्ता—जैसा कि वज्रावली में कहा है—

वं वज्री वज्रसत्त्वश्च वज्रभैरव ईश्वरः ।

हेरुकः कालचक्रश्च आदिबुद्धनामभिः ॥¹

अर्थात् वज्री, वज्रसत्त्व, वज्रभैरव, ईश्वर, हेरुक, कालचक्र आदि आदिबुद्ध के नाम हैं।

इस प्रकार (ये) तन्त्र शास्ता (देशक) के नाम पर्याय हैं। वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र (तो० 494) में इस प्रकार कहा है—“भगवान् महावैरोचन ने, महावज्रपाणि को साधुपुत्र ऐसा कह कर कहा”।

परिषद्—शास्ता (देशक) से भिन्न सन्तति वाली परिषद् को बाह्य (तन्त्र) और शास्ता (देशक) से अभिन्न सन्तति वाली परिषद् को आभ्यन्तर (तन्त्र) कहा है। योगतन्त्रों में इस प्रकार का निर्णय (नियम) नहीं दिखाई पड़ा।

स्थान—अकनिष्ठ और तुषित आदि (लोक) में कहा गया बाह्य है और वज्रभार्या (देवी) के भग में उपदेशित अध्यात्म(तन्त्र) है। मञ्जुश्रीमूलतन्त्र(कल्प) में कहा है—“भगवां शुद्धावासोपरि गगनतल” अर्थात् भगवान् शुद्धावास के ऊपर आकाश के मध्य में (स्थित होकर) और तत्त्वसंग्रह (तो० 479) में (भी) कहा है—“(भगवान्) अकनिष्ठ-देवराजस्य भवने विजहार”² अर्थात् भगवान् अकनिष्ठ देवराज के भवन में विहार कर रहे थे। वज्रावली में कहा है—

1. वज्रावली के वचन के रूप में उद्धृत यह वचन कालचक्रतन्त्र की टीका विमलप्रभा में मूलतन्त्र के वचन के रूप में उद्धृत है, द्र०-विमलप्रभा-I, पृ० 40
2. तत्त्वसंग्रह, प्रथम परि०, पृ० 1

ए रहस्ये खधातौ वा भगे धर्मोदयेऽम्बुजे ।
सिंहासने स्थितो वज्री [उक्तस्तन्त्रान्तरे मया] ॥¹

अर्थात् वज्री एकार, रहस्य, खधातु, भग, धर्मोदय, पद्म सिंहासन पर स्थित हैं, अन्य तन्त्रों में मैंने कहा है।

पूजाद्रव्य—पुष्प आदि बाह्य वस्तुओं और पञ्च बाह्य कामगुणों द्वारा प्रमुखता से पूजा होती हो वह बाह्य और सत्त्वों के शरीर से उत्पन्न पाँच मांस, पञ्चामृत और मुद्रा के पञ्च कामगुणों द्वारा पूजा होती हो वह अध्यात्म है। **वज्रशेखर** (तो० 480) में कहा है—“जल और भूमि से उत्पन्न पुष्पों को जो देव आदि के द्वारा अनङ्गीकृत हों, उन्हें मुनीन्द्रों को अर्पित करें”, इत्यादि और **लघुचक्रसंवरतन्त्र** (तो० 368) में कहा है—“स्वरेतो बिन्दुभिर्बुद्धान् बोधिसत्त्वांश्च पूजयेत्”² अर्थात् स्वद्रव्य बिन्दु से बुद्ध और बोधिसत्त्वों की पूजा करें।

मार्ग—मोक्ष के प्रतिरूप का मार्गीकरण कर, बुद्धत्व प्राप्ति के सदृश देवोत्पत्ति को बाह्य कहा है। क्रिया और चर्यातन्त्र में ऐसा निर्णय (नियम) नहीं दीखता, लेकिन ऐसा योगतन्त्र में है। **वज्रशेखर** (तो० 480) में कहा है—“इसके पश्चात् बोधिचित्त विकुर्वण में, पृथग्जन असमर्थ हैं, उनके श्रेष्ठ समाधि को, चित्त (बोधिचित्त) से ही संस्कारित कर; परमाद्यतन्त्र में कहे अनुसार, बुद्धों ने विकुर्वण को दर्शाया”।

संसार के प्रतिरूप का मार्गीकरण कर सत्त्वों के चार प्रकार के योनि शोधन के सदृश देवोत्पत्ति को आभ्यन्तर (अध्यात्म) कहा है।

तत्त्व भेद—देव तत्त्व को पञ्चज्ञान के रूप में निर्देश करना बाह्य है और सत्त्वों के पञ्च स्कन्धों, पञ्च मांस और पञ्चामृत आदि को तत्त्वज्ञान के रूप में निर्देश करना आभ्यन्तर (अध्यात्म) है। **वज्रशेखर** (तो० 480) में कहा है—“सभी बुद्धों का सम्यक् संग्रह, धर्मधातु को निर्देश करने वाला स्वभाव, सर्वत्र व्याप्त गुह्य का संग्रह कर, मध्य में नाथ वैरोचन” इत्यादि। वैरोचन (का) धर्मधातु ज्ञान और अक्षोभ्य (का) आदर्शज्ञान आदि कहा है। **संवरोदय** (तो० 373) में कहा है—

1. वज्रावली के वचन के रूप में उद्धृत यह वचन कालचक्रतन्त्र की टीका विमलप्रभा में मूलतन्त्र के वचन के रूप में उद्धृत है—द्र०-वि० प्र० I, पृ० 39
2. चक्रसंवरतन्त्र, I, पृ० 23

रूपं वेदना संज्ञा संस्कारा विज्ञानमेव च ॥
 आदर्शः समता प्रत्यवेक्षणा कृत्यानुष्ठानमेव च ।
 सुविशुद्धधर्मधातुश्च एते ज्ञाने प्रतिष्ठिताः ।
 वैरोचनरत्नसम्भवामिताभामोघाक्षोभ्य एव च ॥
 पञ्चाकारैकसम्बोधिः ॥¹

अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान भी, आदर्श, समता, प्रत्यवेक्षणा कृत्यानुष्ठान और सुविशुद्धधर्मधातु ज्ञान में ही सुप्रतिष्ठित हैं। वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य पञ्चाकाराभिसम्बोधि में....। वज्रहृदयालङ्कारतन्त्र (तो० 451) में कहा है—

“इस प्रकार हस्ति, अश्व, गो, कुक्कुर का मांस और महामांस, जो पञ्च ज्ञान स्वभाव वाले हैं, को प्रसन्न चित्त से खायें” इत्यादि।

परन्तु, मार्ग भेद में मात्र उत्पत्तिक्रम के अतिरिक्त नहीं बतलाया है।

विपाककर्ता अभिषेक में भी भेद हैं, क्योंकि योग से निम्न तन्त्रों में गुह्य अभिषेक, प्रज्ञाज्ञानाभिषेक और चतुर्थ अभिषेक (ये) तीन नहीं बतलाए गये हैं। महायोग(तन्त्र) में ये पूर्वोक्त ज्ञानतिलक के उद्धरण से सिद्ध होता है। मुक्तिकर्ता साधन में भी न केवल उत्पत्तिक्रम है, क्योंकि उत्पत्तिक्रम तो सामान्य होता है, असामान्य भेद तो निष्पन्नक्रम द्वारा किया जाता है। अपितु योगतन्त्र से निम्न तन्त्रों में निष्पन्नक्रम को स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया गया है जबकि महायोग(तन्त्र) में निष्पन्नक्रम को स्पष्टतया बतलाया गया है। इसी प्रकार दृढीकरण के अङ्ग—आचरणीय, पालनीय एवं भोज्य समय आदि में भी भेद हैं। इसे भी पूर्वोक्त तन्त्रों के भेद की भाँति जानना चाहिए।

•

ग्रन्थ समीक्षा

—जनार्दन पाण्डेय—

ग्रन्थ	-	काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ
लेखक	-	डॉ० नवजीवन रस्तोगी
प्रकाशक	-	मुंशीराम मनोहरलाल प्रा० लि०, नई दिल्ली
साइज	-	डबल डिमाई, पृष्ठ 14+276, मूल्य - 450 रु०
प्रकाशन	-	2002 ई०

भारतीय दर्शन भिन्न-भिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न भूमियों के अनुरूप एक व्यावहारिक ज्ञान है, जो केवल अनुभवगम्य है। हमारा जीवन और दर्शनशास्त्र जैसे एक ही तत्त्व के दो रूप हैं, एक व्यावहारिक है और दूसरा सैद्धान्तिक। भूमिभेद से व्यवहार में भेद होता है और उससे सिद्धान्त में। इसी भेद में अभेद देखना और उसी का अनुभव करना दर्शन का लक्ष्य है, भारतीय चिन्तन परम्परा में इसकी चरम परिणति काश्मीर शैवाद्वयवाद में है और इसी में दर्शन के पूर्ण स्वरूप का अनुभव होता है।

अभी-अभी डॉ० रस्तोगी की “काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ” नामक ग्रन्थ प्रकाश में आया है। इस दर्शन के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए यह अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। इसमें काश्मीर शिवाद्वयवाद के मौलिक चिन्तन क्रम में अनुस्यूत आधारभूत विशिष्ट प्रत्ययों को रूपायित कर उनके उन्मीलन से इस दर्शन में एक अन्तर्दृष्टि को विकसित करने की चेष्टा की गई है। इस दर्शन में प्रत्येक पारिभाषिक शब्द के प्रयोग की अनेक भूमियाँ हैं और कुछ ऐसे मौलिक प्रत्यय हैं जिन पर इसका पूरा ढाँचा आधारित है, उन्हीं का यहाँ विवेचन किया गया है। अज्ञान, मोक्ष आदि प्रमुख धारणाओं का साक्षात् विवेचन नहीं किया है, क्योंकि उनसे प्रायः सभी परिचित हैं। केवल पूर्णता के घटकभूत केन्द्रीय प्रत्ययों—प्रकाश, विमर्श आदि तथा पूर्णता तक पहुँचने के तीन आयामों—भक्ति, योग और उपाय चतुष्टय पर ही विचार किया गया है। इस ग्रन्थ में चौदह अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय है—**आधारपीठिका**। इसमें ग्रन्थ के विषय को स्पष्ट करते हुए काश्मीर शिवाद्वयवादी तन्त्रों व ग्रन्थों में विकसित प्रत्ययों का आलोचनात्मक अध्ययन किया है तथा इस दर्शन के अवान्तर सम्प्रदायों की परिभाषा के साथ विस्तृत विवरण दिया

है। जैसे **त्रिक**—द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत इन तीनों का सार जिसमें निहित है वह त्रिक कहलाता है और इसी में परा, परापरा और अपरा इन तीन देवियों की कल्पना की जाती है। **क्रम**—इस संप्रदाय में सारी व्याख्याएँ क्रम की धारणा को केन्द्र में रखकर की जाती हैं। जैसे—क्रमनय, औत्तरक्रम महार्थक्रम आदि। **कुल**—इसमें सामरस्य भाव की चेतना प्रधान है। सब कुछ एक ही कुल का अंग है, इस दृष्टि से अद्वैत की स्थापना की गई है। **स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा**—तान्त्रिक शिवाद्वयवाद के दार्शनिकीकरण की प्रक्रिया में इन दोनों को त्रिक के अन्तर्गत माना जाता है। इन दोनों को अध्याय 4 और 11 में स्पष्ट किया गया है। इस अध्याय के अन्त में इस दर्शन की ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा वर्णित है।

दूसरे अध्याय में **प्रकाश** का विवेचन है। यद्यपि इस दर्शन को प्रकाशविमर्शात्मक माना जाता है, किन्तु फिर भी तार्किक विश्लेषणात्मक दृष्टि से इस अवधारणा की प्रकाश और विमर्श इन दो रूपों में कल्पना की जाती है। प्रकाश यहाँ सत् और ज्ञान दोनों का पर्याय है, इसलिए परमसत् और परप्रमाता के रूप में प्रतिपादित करने से सत्ता और ज्ञान की अभिन्नता का उद्घोषक है। इस दर्शन की तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा जहाँ इस प्रकाशतत्त्व के स्वरूपानुसन्धान में संलग्न प्रतीत होती है वहीं मोक्षमीमांसा भी इसी के प्रत्यभिज्ञान में परिनिष्ठित होती है। इसीलिए मूल अवधारणाओं में प्रथम प्रकाश का विस्तृत विवेचन इस अध्याय में मिलता है।

तीसरे अध्याय का विषय है—**विमर्श**। विमर्श का अर्थ है विचार करने की सामर्थ्य, इस दर्शन में भी विमर्श को संवेदन सामर्थ्य के अर्थ में ही लिया गया है। यहाँ प्रश्न होता है किसके संवेदन की सामर्थ्य? तो उत्तर है—पूर्व वर्णित प्रकाशांशरूप परमसत्ता के संवेदन का। इसीलिए इस दर्शन को प्रकाशविमर्शात्मक कहा जाता है। इसी विमर्श का विवेचन इस अध्याय में किया गया है।

चौथे अध्याय का विषय है—**स्पन्द**। स्पन्द का सिद्धान्त काश्मीर शैवाद्वयवाद में विशेष महत्त्व रखता है। यह सम्प्रदाय विशेष की संज्ञा भी है और उसके सारभूत प्रत्यय 'गति' की विशिष्ट प्रस्तुति भी, जो इस सम्प्रदाय की मौलिक उद्भावना है। दार्शनिक सन्दर्भ में इसका अर्थ है अत्यन्त सूक्ष्म गति। उस परमतत्त्व की यह स्पन्द क्रिया उसे नाना रूपों में आभासित करती हुई भी तात्त्विक रूप से कहीं च्युत नहीं होने देती। उस अद्वय तत्त्व में नानात्व के संयोजन का प्रयास ही स्पन्द नामक वैशिष्ट्य को उसका अनिवार्य स्वभाव बना

देता है। इस स्पन्द सिद्धान्त की उत्पत्ति तथा विविधता का सम्यग्विवेचन इस अध्याय में है।

अध्याय पाँच का विषय है—**वाक्**। यह वाक् शैवाद्वयवाद के 'सत्' का स्वरूपाधायक तत्त्व है। यहाँ समष्टि और व्यष्टि का प्रत्येक कण इस वाक् तत्त्व से अनुप्राणित है। अद्वैततत्त्व का नानात्व के रूप में विमर्शन वृत्ति से जो विस्तार होता है और जो प्रत्यावर्तन होता है, वही वाक् तत्त्व है, विमर्श विचार का चेतना रूप है और वाक् उसका स्फुटीकरण है। इसका और परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी रूप इसके भेदों का विस्तृत विवेचन इस अध्याय में दिया है।

अध्याय छः का विषय है—**स्वातन्त्र्य**। यह इस दर्शन का आधारभूत प्रत्यय है, जो इसके पूर्णतावादी ढाँचे को प्रमुख रूप से प्रस्तुत करता है। यद्यपि आगमिक विचारधारा के सभी सम्प्रदाय सत् की स्वतन्त्रता को स्वीकार करते हैं, परन्तु द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैतादि प्रवृत्तियों के कारण वह विभक्त हो जाता है। काश्मीर शैवाद्वयवाद में यह स्वातन्त्र्य ऐसे रूप में देखा जाता है, जिससे इस सम्प्रदाय को ही स्वातन्त्र्यवाद कहा जाता है। इस अध्याय में यह स्पष्ट किया है कि जहाँ यह स्वातन्त्र्य आनन्द, क्रीड़ा, पंचकृत्यकारित्व, नियमन, संबन्ध कारणता आदि विविध धारणाओं का स्रोत है वहीं उस पूर्णतत्त्व के विस्तार और संकोच का निमित्त भी है। मोक्ष के सन्दर्भ में भी यह स्वातन्त्र्य वेदान्त की तरह सब कुछ मायिक मानकर उसे त्यागने में नहीं प्रत्युत स्वात्मविभवरूप में सब कुछ स्वीकार करने के रूप में मानता है।

अध्याय सात का विषय है—**शक्ति**। शक्ति इस दर्शन का अवधारणाओं में प्रमुख है शिव की समस्त गति या क्रिया का संबन्ध इसी से जुड़ा है। शिव में स्थित इकार शक्ति का ही प्रतीक है, उसके बिना शिव शव हो जाता है अर्थात् शक्ति तत्त्व ही सारी सामर्थ्यों का प्रतिनिधि है और शिव की चेतनता इसी से संभव है। इसीलिए शिव को सर्वदा शक्ति से अव्यतिरिक्त माना जाता है। यद्यपि तान्त्रिक जगत् में शैव और शाक्त परम्पराएँ पृथक् दीखती हैं, शैव शिव को और शाक्त शक्ति को प्रधान तत्त्व मानते हैं, किन्तु काश्मीर शैवाद्वयवाद में शिव की सर्वशिवता को माना जाता है। इनका सिद्धान्त है शिव ही अपनी शक्तियों से जागतिक जीवों के रूप में प्रकट होकर नाना प्रकार के व्यापार करता है। इसकी ये शक्तियाँ हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। शक्ति का जो विवेचन इस

अध्याय में किया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति इस दर्शन की तत्त्वमीमांसा का स्वरूपनिर्धारक आधारबिन्दु है।

अध्याय आठ का विषय है—**पूर्णता**। भारतीय अध्यात्मवाद में प्रारम्भ से ही सर्वोच्च सत् तत्त्व की मान्यता रही है “पूर्णमदः पूर्णमिदं...” इत्यादि वाक्य इसके प्रमाण हैं। पूर्ण शब्द का वाच्य अर्थ है भरा हुआ अर्थात् पूरी तरह से व्याप्त। दार्शनिकों ने इसका प्रयोग व्याप्त, नित्य, सामर्थ्यवान्, आकांक्षारहित, एकरसात्मक या समरसात्मक, आनन्दमय और अद्वय इन अर्थों में किया है। प्रस्तुत अध्याय में किस दार्शनिक ने किस अर्थ में इसका प्रयोग किया है, यह बताते हुए स्पष्ट किया है कि काश्मीर शैवाद्वयवाद में समरसात्मकता को ही पूर्णता का स्वरूपाधायक माना है।

अध्याय नौ का विषय है—**सम्बन्ध**। आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है ‘सम्बन्धाधीनैवेयं चित्रा लोकयात्रा’ यह सम्पूर्ण लोकव्यवहार सम्बन्धों पर ही तो चलता है। प्रत्येक दर्शन सम्प्रदाय मूलतः दो प्रकार से सम्बन्ध का अध्ययन करता है—1. मूलसत्ता से जगत् का सम्बन्ध, 2. जागतिक पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध। यह सम्बन्ध क्या है—द्रव्य, गुण, जाति या एक सामान्य तथ्य? इस प्रश्न के उत्तर में अन्य दार्शनिकों के पक्ष एवं उनका निराकरण करते हुए काश्मीर शैव सिद्धान्त स्थिर किया है कि परम सार के स्वातन्त्र्य का प्रथम स्फारनियमन अर्थात् तथ्यों के व्यवस्थितीकरण का एक ढंग ही सम्बन्ध है।

अध्याय दस का विषय है—**भेद**। दार्शनिक परम्पराएँ दो भागों में विभक्त हैं—व्यावहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक स्तर पर जब अभेद की चर्चा करते हैं तो भेद को जानना आवश्यक होता है, क्योंकि व्यवहार से ही परमार्थ की ओर अग्रसर हुआ जाता है। भेदवादी और भेदाभेदवादी दार्शनिकों के लिए भेद की प्रतिष्ठापना आसान है, किन्तु अभेदवादियों के लिये कठिन है, क्योंकि उन्हें हर परिस्थिति में अभेद को सुरक्षित रखना होता है। इसीलिए सभी अद्वैतवादी दर्शन भेद को मिथ्या, अविद्याजन्य व्यवहार या संवृतिसत् रूप में मानकर परतत्त्व में उसकी सत्ता का निषेध करते हैं। काश्मीर शैवदर्शन पूर्णतावादी है, इसलिए माया, अविद्या, निषेध, विकल्प आदि उप-प्रत्ययों को अपने में स-लेता है और भेद को भी अभिन्न संवित् में स्वीकार कर लेता है। यही स्थिति उसे अद्वैत से भी ऊपर महाद्वैत पद पर प्रतिष्ठित करती है। इस अध्याय में भेद का स्वरूप, 6 प्रकार के दर्शनों की गणना, जो भेद-अभेद को सत्, असत्, दोनों या दोनों से भिन्न या एक को आभासन रूप मानते हैं, की गई है और भेद का प्रकाशन और आभासन के स्तर का

विवेचन किया गया है, क्योंकि भेद इस दर्शन की एक मूलभूत समस्या है, जिसका सम्बन्ध मोक्ष और बन्धन से है। भेद का परिज्ञान ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति में और निषेध बन्धन प्राप्ति में समर्थ है।

अध्याय ग्यारह का विषय है—**प्रत्यभिज्ञा**। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है अवबोधन या पहचान। भारतीय दार्शनिक चिन्तन का प्रमुख लक्ष्य रहा है प्रमाता के स्वरूप का अवबोधन। प्रायः सभी दर्शन किसी न किसी रूप में इसे स्वीकार करते हैं, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन सम्पूर्ण रूप से इसी के रंग में रंगा है, इसीलिये इसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन रूप से ही अधिक जाना जाता है। विद्वान् लेखक ने इस अध्याय में प्रत्यभिज्ञा शब्द की व्युत्पत्ति, प्रत्येक भारतीय दर्शन में उसका स्वरूप निरूपण और काश्मीर शैव में उसकी स्थिति का व्यापक रूप से विवेचन किया है। ज्ञानात्मक, क्रियात्मक, वाच्य-वाचकात्मक और आभासनात्मक प्रक्रियाओं के अतिरिक्त रसानुभूति की प्रक्रिया भी प्रत्यभिज्ञा पर अवलम्बित रहती है। प्रमाणमीमांसा की दृष्टि से तथा तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से इसके भेद दर्शाये हैं। इसे एक समन्वयवादी प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है, जिसमें सब कुछ समाविष्ट है। काश्मीर शैवदर्शन का सर्वाधिक व्यापक व जटिल सिद्धान्त है प्रत्यभिज्ञा। क्षेत्र चाहे ज्ञान का हो, परमार्थ का हो या साधना का हो, आदि और अन्त प्रत्यभिज्ञा ही है।

अध्याय बारह का विषय है—**भक्ति**। काश्मीर शैवाद्वयवाद में ज्ञान, योग और भक्ति का अनुठा संगम है। मानव व्यक्तित्व के तीन पक्ष हैं—ज्ञान, योग और भावना। मानव ज्ञानपक्ष की प्रबलता से दर्शन की ओर, क्रियापक्ष की प्रबलता से योग की ओर तथा भावनापक्ष की प्रबलता से भक्ति की ओर प्रवृत्त होता है। तीनों का साध्य एक ही है, जो काश्मीर शैवाद्वैत में पर्यवसित होता है। इस अध्याय में विभिन्न संप्रदायों में स्वीकृत भक्ति की परिभाषा और उसका स्वरूप दर्शाते हुए इस दर्शन में उसका वैशिष्ट्य वर्णित है। इस संप्रदाय में परमेश्वर की कल्पना एक पूर्णतत्त्व के रूप में की गई है जिसमें सारे भेद अंशरूप से समाहृत हैं। चूँकि भक्ति की अवधारणा में भेद भी आवश्यक है और ऐक्य भी। अतः यहाँ ऐक्य तो वास्तविक है और भेद आभासज्ञान। शिवाद्वयवाद के सभी आचार्यों ने स्तुतिपरक उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं और उनमें स्वीकृत दार्शनिक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में भक्ति की धारणा को विकसित किया है।

अध्याय तेरह का विषय है—**योग**। विभिन्न संप्रदायों द्वारा स्वीकृत योग की परिभाषाओं का इस अध्याय में सम्यग्विवेचन है। शैवाद्वयवाद के विभिन्न आचार्यों ने कई

रूप में इसे माना है। सामान्यतः योग का अभिप्राय है समाधि। इसे ये भी स्वीकार करते हैं, अतः पतञ्जलि का अष्टाङ्ग योग इन्हें भी मान्य है, किन्तु उसकी परिभाषा इनकी अपनी है। जैसे यम=संसार से नित्य विरति। नियम=परतत्त्व की नित्यभावना। आसन=प्राण का आश्रय लेकर ज्ञानशक्ति के सहारे स्थित रहना। प्राणायाम=सूक्ष्मातीत प्राणात्मिका चित् के स्पन्दन की अनुभूति। प्रत्याहार=चित्त द्वारा अपनी वृत्तियों को छोड़कर परमधाम में प्रवेश। ध्यान=बुद्धि के गुणों से परे निर्ध्वंश परमतत्त्व का ध्यान। धारणा=जिसके द्वारा परमतत्त्व को धारण किया जाय। समाधि=जड़-चेतन में शाश्वत विद्यमान चित् तत्त्व का अपनी वृत्ति में स्फुरण। तात्पर्य यह है कि पातञ्जलयोग क्रिया प्रधान है और इनका ज्ञानप्रधान। कुछ विद्वान् यम और नियम को इसमें न गिनकर षडङ्ग योग भी मानते हैं।

अध्याय चौदह का विषय है—उपाय चतुष्टय। इस शैवाद्यवाद में प्रकाशस्वातन्त्र्य ही मुख्य है। यही संवित्, महासंवित् या परमज्ञान है। इसे प्राप्त करने के जो साधन हैं वे उपाय कहे जाते हैं। ये चार हैं—आणवोपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय तथा अनुपाय। भेद से अभेद की ओर जाना ही इन उपायों का लक्ष्य है, परन्तु भेद के भी स्तर हैं। अणु (देह) के स्तर पर संवित् में प्रवेश कराने वाला आणवोपाय है। चेतना के स्तर पर प्रवेश कराने वाला शाम्भवोपाय है, चित्त के स्तर पर प्रवेश कराने वाला शाक्तोपाय है और अनुपाय वह है जिसमें किञ्चित् संकेतमात्र से शिवैकात्म्यानुभूति हो जाती है, जैसे सिद्धों के आशीर्वाद, गुरु की कृपा (शक्तिपात) आदि से सहसा शिवैकात्म्यानुभूति परम शिव की इच्छा से हो जाती है। इसे अल्पोपाय भी कहते हैं। इन्हीं का विवेचन इस अध्याय में किया है।

इस ग्रन्थ के लेखक डॉ० रस्तोगी लखनऊ विश्वविद्यालय में संस्कृत-पालि विभाग के अध्यक्ष तथा “अभिनवगुप्त संस्थान स्वतंत्र कलाशास्त्रीय एवं शैवदार्शनिक” के मानद अध्यक्ष रहे हैं। काश्मीर शैवदर्शन व अभिनवगुप्त के चिन्तन में इनके ‘द क्रम तान्त्रिसिद्धि ऑफ कश्मीर-भाग 1’, ‘इण्ट्रोडक्शन टू द तन्त्रालोक : ए स्टडी इन स्ट्रक्चर’ जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। जयरथ की टीका सहित तन्त्रालोक जैसे विशाल ग्रन्थ का सम्पादन इन्होंने किया है। इन्साइक्लोपीडिया ऑफ इंडियन फिलोसॉफी के काश्मीर शैव खण्ड के सम्पादक हैं। ऐसे आधिकारिक विद्वान् की यह कृति कश्मीर शैव दर्शन के जिज्ञासुओं के लिये प्रामाणिक रूप से उपयोगी होगी, ऐसा हमारा विश्वास है। ग्रन्थ की छपाई-सफाई उत्तम है।

सम्यक्सम्बुद्धभाषितप्रतिमालक्षण (संक्षिप्त परिचय)

—बनारसी लाल—

[आधुनिक पुरातत्त्वविदों के अनुसार बुद्धमूर्ति का निर्माण कुषाणकाल से प्रारम्भ हुआ। परन्तु परम्परानुसार बुद्ध के अपने जीवनकाल में ही बुद्धमूर्ति एवं चित्र बनना प्रारम्भ हो गया था। बुद्ध ने स्वयं अपनी मूर्ति एवं धातु अवशेषों पर स्तूप निर्माण करने की आज्ञा प्रदान की। इसी सन्दर्भ में संस्कृत पाण्डुलिपियों के मध्य सम्यक्सम्बुद्धभाषित प्रतिमालक्षण की एक प्रति उपलब्ध हुई जिसका भोटानुवाद भी प्राप्त है। इसमें बुद्ध की प्रतिमा बनाने के लिए उसका माप एवं लक्षण वर्णित है। सम्प्रति बिना वैज्ञानिक रूप से सम्पादित किये 'धीः' के पाठकों के समक्ष इसे प्रस्तुत किया जा रहा है तथा साथ ही इसके एक व्याख्यात्मक विवरण को भी प्रकाशित किया जा रहा है।]

बौद्ध परम्परा में बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की अगणित प्रतिमाओं को देखकर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि इनके निर्माण करने की पद्धति कब से प्रचलित हुई। साथ ही इस प्रकार की सुगठ एवं सुन्दर प्रतिमाओं को बनाने के लिए क्या कोई विशेष मापदण्ड था? यद्यपि बौद्ध मूर्तिविज्ञान या प्रतिमाशास्त्र सम्बन्धी कोई विशेष ग्रन्थ संस्कृत में प्राप्त नहीं है तथापि इन विविध मूर्तियों के अवलोकन से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीन समय में इनके निर्माण के लिए अवश्य कुछ न कुछ माप-दण्ड रहा होगा। इस सम्बन्ध में ध्यातव्य है कि भगवान् बुद्ध बत्तीस महापुरुष लक्षण एवं अस्सी अनुव्यञ्जनों से युक्त थे। अतः कलाकारों के समक्ष इन लक्षणों से युक्त बुद्ध मूर्ति बनाने के लिए आधार था। फिर भी मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से इसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। प्राचीनकाल में बौद्धशास्त्रों के भोटानुवाद के समय प्रतिमा विज्ञान एवं चित्रलक्षण से सम्बन्धित कुछ ग्रन्थ अवश्य थे, जिसके फलस्वरूप इनका अनुवाद आज तन्त्रुर संग्रह में उपलब्ध है।

विद्वानों ने अपने अध्ययनों से यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि बुद्ध ने अपनी पूजा के लिए अनुयायियों को मूर्ति बनाने की आज्ञा नहीं दी। फलस्वरूप प्रारम्भिक काल में बौद्धों में बुद्ध की लीलाओं से सम्बन्धित प्रतीकों की पूजा प्रारम्भ हुई। विद्वानों ने यह मत भी स्थापित करने का प्रयास किया है कि सर्वप्रथम मूर्ति कुषाणकाल में बनी। यद्यपि इस सन्दर्भ में पुरातत्त्वविदों में मतैक्य नहीं है कि सर्वप्रथम बुद्ध मूर्ति कहाँ बनी।

कुछ विद्वान् बुद्ध मूर्ति का सर्वप्रथम निर्माण कुषाणकाल में मानते हैं वहीं कुछ इसका प्रारम्भ गान्धार में स्वीकार करते हैं। कहा जाता है कि बुद्ध द्वारा मूर्ति निर्माण का निषेध करने के कारण उनके अनुयायियों ने प्रथमतः पूजा के लिए प्रतीकों का आश्रय लिया। महापरिनिर्वाणसुत्त और क्षुद्रकविनयवस्तु आदि साहित्य से विदित होता है कि बुद्ध ने स्तूप बनाने की आज्ञा प्रदान की थी। अवदानशतक एवं दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि बुद्ध के नख एवं केश पर भी स्तूप बनाकर पूजा करना बुद्ध के काल में ही प्रारम्भ हो चुका था। बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उनके अस्थि धातुओं पर भी स्तूप बने। इस प्रकार बाद में बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं के आधार पर बुद्ध बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, श्वेतहस्ति, अश्व इत्यादि प्रतीकों के रूप में पूज्य थे।

कुषाणकाल में जब सर्वप्रथम बुद्धमूर्ति बनना प्रारम्भ हुआ तो विद्वानों का मत है कि मूर्तिकारों के समक्ष यक्ष आदि प्रतिमाओं का प्रतिरूप उपस्थित था। इसीलिए उस काल में बुद्ध मूर्तियाँ बहुत ही सुडौल एवं सुन्दर बनीं। वहीं जो विद्वान् बुद्ध मूर्ति का निर्माण गान्धार में स्वीकार करते हैं, उनका मानना है कि उस समय मूर्तिकारों के समक्ष ग्रीक, यूनानी एवं हेलेनेस्टिक मूर्तियों का प्रारूप था। उसी के प्रभाव से वहाँ बनी प्रारम्भिक बुद्ध मूर्तियाँ बलिष्ठ, केश एवं श्मश्रु से युक्त, वस्त्रों से सज्जित दिखलाई पड़ती हैं।

इसके विपरीत परम्परा में उपर्युक्त मतों को स्वीकार नहीं किया जाता। ऐसे कई सन्दर्भ हैं कि बुद्ध के अपने जीवनकाल में ही बुद्ध का चित्र एवं मूर्ति बनना प्रारम्भ हो गया था। सम्यक्सम्बुद्धभाषित प्रतिमालक्षण में तो स्पष्ट है कि बुद्ध जब तुषित में रह रही अपनी माँ को धर्मदेशना देने के लिए जाने लगे तो जेतवन में शारिपुत्र ने भगवान् से पूछा कि भगवन्! भगवान् के नहीं रहने या परिनिर्वाण प्राप्त कर लेने पर श्रद्धावान् कुलपुत्र और कुलदुहिता बुद्ध की किस प्रकार पूजा सत्कार करें। तब भगवान् ने शारिपुत्र को आज्ञा दी कि ऐसी स्थिति में न्यग्रोध परिमण्डल के आयाम व्याम का, सभी अङ्गों एवं उपांगों से युक्त, स्थूल, लावण्य एवं सललित मूर्ति बनाएं। तदनन्तर बुद्ध मूर्ति बनाने के लिए अङ्गों के प्रमाणों को विस्तारपूर्वक बतलाया गया है। इसके सन्दर्भ में कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध एक वर्ष के लिए जब तुषित लोक गये, तब जेतवन विहार में अनाथपिण्डक को उनका वन विहार सूना लगता था। उन्हें लगा कि यह ठीक नहीं है। जब शास्ता नहीं हैं तो यहाँ उनकी मूर्ति बनाकर रखी जाए। उन्होंने शारिपुत्र से प्रार्थना की। शारिपुत्र ने भगवान् से

निवेदन किया तो उन्होंने आज्ञा दे दी, अतः एक चन्दन की मूर्ति बनवाकर गन्धकुटी में रख दी गई।

दिव्यावदान से भी ज्ञात होता है कि बुद्ध के अपने जीवनकाल में ही बुद्ध का चित्र भी बनने लगा था¹। रोरुक के राजा रुद्रायण ने मगध के राजा बिम्बिसार को एक बहुमूल्य भेंट भेजा। जब उसका मूल्य आंका गया तो लगा कि बिम्बिसार के खजाने में जितना धन है उससे अधिक मूल्यवान वह भेंट है। मगध राज असमञ्जस में था कि इसके बदले क्या भेजा जाए। निर्णय हुआ कि इसके बारे में तथागत से पूछा जाए। राजा ने अपने मन की बात को बुद्ध के समक्ष निवेदित किया। तथागत ने कहा कि बुद्ध, धर्म और संघ से मूल्यवान् कोई वस्तु नहीं है। इसलिए मेरा चित्र बनाकर उस पर द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद सूत्र लिखकर भेज दो। तब चित्रकारों को बुलाया गया, समस्या थी कि भगवान् का चित्र कैसे बनाया जाए क्योंकि उनके तेज के समक्ष किसी की आँखें टिकती नहीं थी। तब भगवान् ने ही सुझाव दिया कि सामने की दीवाल पर एक कपड़ा टांग दिया जाए। सुबह की किरणें जब निकली तो भगवान् दरवाजे पर खड़े हुए। उनकी छाया कपड़े पर पड़ी और चित्रकारों ने प्रतिबिम्ब को देखकर कपड़े पर बुद्ध का चित्र चित्रित कर लिया। उसके पश्चात् द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद सूत्र लिखकर बड़े धूमधाम के साथ भेजा गया।

इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि बुद्ध के जीवन काल में ही बुद्ध की प्रसिद्धि सिंहल देश तक पहुँची। सिंहल की राजकुमारी को यह जिज्ञासा हुई कि बुद्ध कैसे हैं, कहा जाता है कि इसी जिज्ञासा के शमन के लिए बुद्ध का चित्र बनाया गया²।

बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ वर्षों बाद भी बुद्ध प्रतिमाओं का निर्माण जारी रहा। दिव्यावदान के कुणालावदान के अनुसार सम्राट अशोक ने कुक्कुटाराम में बुद्ध प्रतिमा का दर्शन किया था³ सिंहल देश में रचित पालि ग्रन्थ महावंश के अनुसार भी महाराजा अशोक ने किसी नागमूर्तिकार द्वारा बुद्ध मूर्ति का निर्माण करवाया था। सिंहल देश के राजा दुट्ठगामिनी (ई० पू० 107-177) के शासनकाल में भी एक बुद्धमूर्ति का निर्माण हुआ था जिसे महास्तूप की धातुशाला में स्थापित किया था⁴ चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी बुद्ध के

1. दिव्यावदान - पृ० 465-466, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा।

2. *Ūi khro rab hbyams rgyal bahi sku gzugs las cha tshad glu dbyaṅs sgrog pa.* by - Rigzin ḍpal ḥbyor, Dharmasala, 1987.

3. महावंश 5/87-93, उद्धृत - बुद्ध प्रतिमा विज्ञान : एक विहंगम दृष्टि—अंगने लाल, धी: 32, पृ० 108

4. धी: 32, पृ० 108, महावंश 3/72-74, उपरिवत्।

जीवनकाल में ही चन्दन काष्ठ की बुद्ध मूर्ति होने का विवरण दिया है¹। सम्भवतः उन्होंने इसे अपने पूर्ववर्ती यात्री फाह्यान के विवरणों के आधार पर लिखा ऐसा अनुमान किया जाता है।

बुद्ध पूजा के प्रारम्भिक प्रतीकों में स्तूप एवं चैत्य प्रमुख हैं। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि स्तूपों के निर्माण की भी आज्ञा बुद्ध ने स्वयं दी। महापरिनिर्वाणसूत्र में स्पष्ट ही कहा है² आनन्द तथागत से पूछते हैं कि हम किस प्रकार तथागत के शरीर धातुओं का सम्मान करें। तथागत ने कहा कि आनन्द तथागत की शरीर पूजा के लिए इतना व्यग्र न हों, तुम्हें तथागत द्वारा उपदिष्ट सत्य अर्थों पर ध्यान देना होगा। आनन्द के पुनः निवेदन करने पर बुद्ध ने कहा कि तथागत के शरीर धातुओं का उसी प्रकार सम्मान करना जैसे चक्रवर्ती राजा के धातुओं का सम्मान किया जाता है। चक्रवर्ती सम्राट के शरीर धातुओं का सम्मान करने के लिए जैसे चतुष्पहापथों पर स्तूप बनाया जाता है, उसी प्रकार तथागत के लिए भी स्तूप बनाना चाहिए। अवदानशतक³ के अनुसार राजा बिम्बिसार बुद्ध के केश एवं नख के ऊपर अपने राज प्रासाद में एक स्तूप की स्थापना कर पूजा करता था। क्षुद्रकविनयवस्तु⁴ के अनुसार बुद्ध ने अनाथपिण्डद को शारिपुत्र के अस्थि धातुओं पर स्तूप बनाने का आदेश दिया था ताकि हर कोई उनकी पूजा कर सके। इसी प्रकार बुद्ध के प्रथम शिष्यों में तपस्सु एवं भल्लिक ने प्रथम बार बुद्ध से केश एवं नख धातु प्राप्त किए थे, इसी पर इन दोनों ने अपने देश बाल्हीक में जाकर स्तूप का निर्माण कर पूजा प्रारम्भ की थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध के जीवनकाल में ही बुद्ध मूर्ति एवं चित्र बनना प्रारम्भ हो चुका था। बुद्ध के अवशेष धातुओं (केश एवं नख) आदि पर भी बुद्ध के जीवनकाल में ही स्तूप बनवाकर पूजा प्रारम्भ हो चुकी थी। बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद बुद्ध के अस्थि धातुओं पर भी स्तूप बनाकर पूजा करने की अनुमति तथागत ने स्वयं दे दी थी।

इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि परवर्ती काल में जब बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की मूर्तियों का निर्माण होने लगा था तो उस समय कलाकारों के समक्ष

1. सम्भवतः यह मूर्ति पूर्व सन्दर्भित अनाथपिण्डद द्वारा स्थापित चन्दन की काष्ठ मूर्ति हो सकती है।
2. महापरिनिर्वाणसूत्र, पृ० 123-127, सम्पा० प्रज्ञानन्द, बौद्ध शिक्षा परिषद लखनऊ, 1981
3. अवदानशतक, पृ० 136, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा।
4. क्षुद्रकविनयवस्तु, तो० सं० 6

बुद्धमूर्ति का कोई प्रारूप नहीं था या उन्होंने यक्ष एवं संकर्षण आदि की मूर्ति को या ग्रीक देवताओं की मूर्तियों को आधार बनाकर बुद्ध प्रतिमा का निर्माण किया।

बौद्ध प्रतिमाशास्त्र से सम्बद्ध पाण्डुलिपियाँ

सम्प्रति बौद्ध प्राचीन पाण्डुलिपियों के मध्य कुछ प्रतिमाशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ मिलते हैं और भोट तन्युर संग्रह में इनके अनुवाद की सूचना भी है। यद्यपि सम्यक्सम्बुद्ध-भाषित प्रतिमालक्षण और उस पर विवरण नामक टीका के प्रकाशित होने की सूचना है फिर भी अद्य यावत् उपलब्ध पाण्डुलिपियों का यहाँ विवरण दिया जा रहा है। राष्ट्रीय अभिलेखालय, काठमाण्डू में सम्यक्सम्बुद्धभाषितप्रतिमालक्षण की एक प्रति उपलब्ध है (ल० सं० 3.259)। इसमें सम्बुद्धभाषितप्रतिमालक्षण के साथ व्याख्यात्मक विवरण एवं आत्रेयतिलक नामक प्रतिमाशास्त्रीय ग्रन्थ भी है। ऐसी सूचना है कि इसकी प्रतिलिपि विश्वभारती शान्तिनिकेतन के पुस्तकालय में भी है। इंस्टीच्यूट फॉर एडवांस स्टडीज़ ऑफ वर्ल्ड रिलिजन्स, न्यूयार्क में भी माइक्रोफिश प्लेट में (MBB-I-61) बुद्धप्रतिमालक्षण के साथ आत्रेय तिलक की भी एक प्रति उपलब्ध है। कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी लायब्रेरी में क्रमांक Add. 1706, III एवं IV पर बुद्धप्रतिमालक्षण एवं प्रतिमालक्षण विवरण की एक प्रति उपलब्ध है। मात्सुनामी के सूचीपत्र के अनुसार टोक्यो विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में भी बुद्धप्रतिमा लक्षण की एक प्रति (संख्या 476, पत्र 20) उपलब्ध है। यद्यपि यह अपूर्ण दर्शाया गया है फिर भी पत्र संख्या के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि इसके साथ आत्रेयतिलक या बुद्धप्रतिमालक्षण विवरण की प्रति भी होनी चाहिए। एशियाटिक सोसायटी ऑफ बेंगाल, कलकत्ता में भी प्रविष्टि संख्या 4758 पर तथागतप्रतिबिम्ब-प्रतिष्ठानुशंसावर्णनधर्मपर्याय नाम से एक ग्रन्थ उपलब्ध है¹। इसके शीर्षक से यह साक्षात् प्रतिमाशास्त्र से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता फिर भी प्रतिमा की प्रतिष्ठा एवं उसकी अनुशंसा का वर्णन इसमें होने से यह भी एक महत्वपूर्ण आधार हो सकता है।

भोटानुवाद

सम्यक्सम्बुद्धभाषित प्रतिमालक्षण का भोटानुवाद भी उपलब्ध है। वहाँ इसका नाम दशतालन्यग्रोधपरिमण्डल बुद्धप्रतिमालक्षण नाम है। यह देगे संस्करण में उपलब्ध नहीं है, पीकिंग संस्करण में यह संख्या 5804 पर उपलब्ध है। धर्म पब्लिशिंग, न्यूयार्क द्वारा

1. चीनी अनुवाद के लिए देखें नाञ्जियो सूचीपत्र, सं० 288-290

प्रकाशित देगे संस्करण के पूरक संस्करण में यह सं० 5061 पर प्रकाशित हुआ है। उपलब्ध संस्कृत पाठ एवं भोटानुवाद में किञ्चित् न्यूनाधिक पाठ है। सम्यक्तया सम्पादन करने पर ही इसके शुद्ध पाठों का निर्धारण हो सकता है। सम्बुद्धभाषित प्रतिमालक्षण विवरण का पीकिंग संस्करण (सं० 5805) तथा देगे संस्करण (तो० 4315) दोनों में अनुवाद प्राप्त है। यहाँ ध्यातव्य है कि राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू में उपलब्ध उपरि नामित विवरणी का भोटानुवाद में प्राप्त विवरण का शब्दशः अनुवाद प्रतीत नहीं होता। आत्रेयतिलक नामक ग्रन्थ भोटानुवाद में प्रतिमामानलक्षण (प्रतिबिम्बलक्षण) (तो० 4316, पी० 5807) नाम से उपलब्ध है। यह आत्रेय की रचना है।

प्रकाशन की सूचना

सम्यक्सम्बुद्धभाषित प्रतिमालक्षण और इस पर रचित विवरण का प्रकाशन हरिदास मित्र ने सन् 1933 में विद्या विलास प्रेस, वाराणसी से करने की सूचना है। जितेन्द्र नाथ बैनर्जी द्वारा भी विवरणी सहित मूलग्रन्थ का सम्पादन एवं अंग्रेजी अनुवाद जर्नल ऑफ डिपार्टमेंट ऑफ लेटर्स में कलकत्ता विश्वविद्यालय से सन् 1933 में प्रकाशित होने की सूचना है। आत्रेय विरचित प्रतिबिम्बलक्षण का भी प्रकाशन फणीन्द्रनाथ बोस ने विश्वभारती से अंग्रेजी अनुवाद सहित करने की सूचना है। साथ ही इसका प्रकाशन ग्रेटर इंडिया पब्लिकेशन सं० 5 के अन्तर्गत सन् 1929 में लाहौर से तथा कैटलागस कैटलाग्रम की सूचना के अनुसार इसका प्रकाशन पंजाब ओरियन्टल सीरीज XVIII, में लाहौर से होने की है। उपर्युक्त सभी प्रकाशन अभी हमें उपलब्ध नहीं हो पाये। अतः अधिक विस्तार से समीक्षा नहीं की जा रही है। चित्रलक्षण¹ से सम्बन्धित एक ग्रन्थ जिसके रचयिता नग्नजित् हैं पीकिंग संस्करण (सं० 5806) में उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का संस्कृत पुनरुद्धार एवं अंग्रेजी अनुवाद अशोक चटर्जी ने किया है, जिसका प्रकाशन एशियाटिक सोसायटी ऑफ बेंगाल, कलकत्ता से सन् 1987 में हुआ है। इसमें बौद्ध प्रतिमाओं के लक्षण नहीं मिलते हैं।

प्रतिमालक्षण से सम्बद्ध अन्य स्रोत

बौद्ध परम्परा में बुद्ध और बोधिसत्त्वों के साथ-साथ अन्य अनेक विध देवी-देवताओं के भी स्वरूप मिलते हैं, विशेष कर बौद्ध तन्त्र परम्परा में। तन्त्र के साधना ग्रन्थों में भावना के समय ध्यान के लिए इन देवी-देवताओं का स्वरूप वर्णित है। इनका विशद

1. Citralakṣaṇa - Compl. rom. Ger. Tr., 1913, Leipzig Harrassowitz. (dokumente der indischen kunst, I, Maleree).

स्वरूप साधनमाला¹ नामक ग्रन्थ में देखा जा सकता है। बौद्ध तन्त्रों के ग्रन्थों में प्रायः मूर्ति प्रतिष्ठा, प्रतिमा की अर्घ्य विधि इत्यादि अनेक विषय अनुस्यूत रहते हैं। अभयाकर गुप्त विरचित वज्रावली² में प्रतिमादि प्रतिष्ठा विधि एवं अर्घ्य विधि का उल्लेख मिलता है। उसी प्रकार क्रियासमुच्चय³ नामक ग्रन्थ में प्रतिमादि की अर्घ्य विधि, चैत्यलक्षण आदि विषय उपलब्ध हैं। कुलदत्त विरचित क्रियासंग्रहपञ्जिका⁴ में विहार प्रतिष्ठा विधि के साथ-साथ विस्तार से प्रतिमालक्षण, देहमान, परिणाहप्रमाण, प्रतिमा के रूप का गुण-दोष और फिर नौ ताल, दस ताल, आठताल, सप्तताल, सेनापतिलक्षण, षडताल, वामन रूप चार ताल और बालरूप चार ताल तथा तीन ताल विनायक की मूर्ति निर्माण के तालानुरूप लक्षण बतलाए गए हैं। कालचक्रतन्त्र की टीका विमलप्रभा⁵ में भी चैत्य लक्षण के सन्दर्भ में बुद्ध प्रतिमा के लक्षणों का वर्णन किया गया है। वहीं बुद्ध का रूप चित्रित करने के लिए चित्रादि रूप लक्षण का निर्देश संवरोदयतन्त्र⁶ के 30वें पटल में उपलब्ध होता है। डाकार्णव के 25वें पटल में भी भगवती शुद्धि के साथ तथागत प्रतिष्ठा विषय उपन्यस्त है।

तथागत बिम्ब एवं चित्र के निर्माण तथा तथागत पूजा के सन्दर्भ में अनेक प्राचीन सूत्रों में भी उल्लेख आया है। आचार्य शान्तिदेव विरचित शिक्षासमुच्चय⁷ में ऐसे अनेक प्राचीन सूत्र उद्धृत हैं, जिनमें तथागत की पूजा, बुद्धबिम्ब दर्शन, प्रतिमामात्र दर्शन के पुण्यों का उल्लेख है। मञ्जुश्रीमूलकल्प में भी चार परिच्छेद पटविधान अर्थात् चित्रांकन से सम्बद्ध हैं, जिससे ज्ञात होता है कि तथागतबिम्ब का चित्रांकन प्राचीन समय से होता था। इसी प्रकार भद्रकल्पिकसूत्र (Toh. 94), अचलतन्त्र (Toh. 432-434), सुप्रतिष्ठिततन्त्र (Toh. 486) आदि अनेक सूत्रों एवं तन्त्र ग्रन्थों में बुद्धप्रतिमा के चित्रांकन का विवरण प्राप्त होता है।

सम्बुद्धभाषितप्रतिमालक्षण का प्रस्तुत पाठ

बौद्ध प्रतिमालक्षण या प्रतिमालक्षण नामक राष्ट्रीय अभिलेखालय, काठमाण्डू की इस पाण्डुलिपि का परिचय धीः के 19वें अंक में पृ० संख्या 10 पर दिया गया था। परन्तु

1. साधनमाला - सं० विनयतोष भट्टाचार्य, गायकवाड ओरियन्टल इंस्टीच्यूट, बड़ौदा, 2 भाग।
2. वज्रावली (पृ० 7-11) - Lokesh Chandra, Śatapiṭaka Series, Vol. 239, 1977.
3. क्रियासमुच्चय (पृ० 23-25), Lokesh Chandra, Śatapiṭaka Series, Vol. 237, 1977.
4. क्रियासंग्रहपञ्जिका (पृ० 207-216), Sharadarani, Śatapiṭaka Series, Vol. 236, 1977.
5. कालचक्रतन्त्रटीका विमलप्रभा, III, p. 125-127, तिब्बती संस्थान, सारनाथ, 1994
6. संवरोदयतन्त्र - चित्रादिरूपलक्षणनिर्देशपटलस्त्रिंशतिमः ।
7. शिक्षासमुच्चय, 17वाँ एवं 19वाँ परिच्छेद।

इसके प्रकाशन की सूचना के आधार पर इसे सम्पादित कर प्रकाशित करने का प्रयास नहीं किया गया। सन् 1933 में प्रकाशित हरिदास मित्र का संस्करण इदानीं प्राप्त नहीं है। अतः सम्प्रति यह नहीं कहा जा सकता कि उनके द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ यही है या अन्य कोई दूसरा। इसके भोटानुवाद के होने का उल्लेख किया जा चुका है। संस्कृत पाठ और भोटानुवाद में भी पर्याप्त न्यूनाधिक्य है। प्रतीत होता है कि परवर्ती पाण्डुलिपियों में लिपिकारों ने भी कुछ पाठ प्रक्षिप्त कर दिया। अतः फिलहाल भोटानुवाद से तुलना किए बिना संस्कृत पाठ को यथालब्ध रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इंस्टीच्यूट फॉर एडवांस स्टडीज में उपलब्ध पाण्डुलिपि के पाठों को यहाँ 'ख' पाठ के रूप में इंगित किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के साथ मातृका में उपलब्ध व्याख्यात्मक अंश को भी दिया जा रहा है, जिसका विवरण के रूप में नामकरण कर दिया गया है। पाण्डुलिपि में इसका कोई शीर्षक नहीं है। जैसे पहले ही बतलाया जा चुका है कि भोटानुवाद में उपलब्ध विवरण नामक टीका के पाठ से भी पर्याप्त अन्तर है। फिर भी मूल ग्रन्थ की व्याख्या होने से दोनों में काफी साम्य भी परिलक्षित होता है। पाण्डुलिपि एवं अनुवाद दोनों स्थानों में इसके रचनाकार का नामोल्लेख नहीं होने से यह नहीं कहा जा सकता कि यह किसकी रचना है।

ग्रन्थ का संक्षिप्त स्वरूप

सम्यक्सम्बुद्ध का रूपकाय अर्थात् प्रतिमा बनाने के लिए सर्वप्रथम माप क्या हो यह जानना आवश्यक है। जैसा कि इस ग्रन्थ के भोट शीर्षक से ही विदित होता है कि सम्बुद्ध की प्रतिमा दश ताल की होनी चाहिए। प्रत्येक ताल के लिए बतलाया गया है कि यह अपनी अंगुली के प्रमाण से नियत किया जाता है। बुद्ध की प्रतिमा बनाते समय साढ़े बारह अंगुल का ताल माना गया है, जबकि अन्यत्र स्थलों में ताल में बारह अंगुल ही स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार दश तालात्मक बुद्ध प्रतिमा एक सौ पच्चीस अंगुल की होती है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह भी बतलाया है कि बुद्ध की प्रतिमा न्यग्रोध प्रमाण के आयाम व्याम की होनी चाहिए। व्याख्या में बतलाया गया है सम्बुद्ध और वज्रधर की मूर्ति का माप दशतालात्मक होना चाहिए। लोचनादि देवियों की नौ ताल अर्थात् एक सौ आठ अंगुल की, बोधिसत्त्वों की दस ताल अर्थात् एक सौ बीस अंगुल की, छोटे और लम्बोदर क्रोध देवताओं की आठ ताल अर्थात् 96 अंगुल की प्रतिमा बननी चाहिए तथा वहीं लपलपाती जिह्वाओं वाले क्रोध देवताओं की दस ताल अर्थात् एक सौ बीस अंगुल की।

प्रस्तुत ग्रन्थ में बुद्ध मूर्ति का प्रमाण (माप) उल्लेख है। प्रथमतः उष्णीष से चिबुक पर्यन्त का परिमाण बतलाया गया है तदनन्तर मुख के प्रत्येक अंग का आयाम, विस्तार और परिमण्डल का माप उल्लिखित है। फिर ग्रीवा से प्रारम्भ कर स्कन्ध, बाहु, प्रबाहु एवं हाथ की अंगुलियों का आयाम, व्याम एवं परिणाह (वृत्त) का माप दिया गया है। तदनन्तर ग्रीवा से स्तन एवं छाती का माप उल्लेख करते हुए नाभि, मेढू, वृषण, ऊरु, जानु, गुल्फ से पार्श्व तक का आयाम, व्याम एवं परिणाह माप दिया गया है। अन्त में पाद (पैर) एवं पैर की अंगुलियों का माप वर्णित है।

प्रस्तुत संस्करण में प्रयुक्त पाण्डुलिपि के प्रारम्भ में चैत्य लक्षण से सम्बद्ध कुछ गद्य-पद्यात्मक अंश हैं। तत्पश्चात् घण्टा लक्षण से सम्बद्ध कुछ पत्र हैं। तदनन्तर एक नये पत्रांक से उपरि व्यवहृत विवरण प्रारम्भ होता है। सातवें पत्र में 'इति प्रस्तारः कथितः' के बाद 'तस्य मूर्तेर्लक्षणव्यञ्जनानुव्यञ्जनानि कथ्यन्ते' लिखकर पत्र अपूर्ण छोड़ दिया है। पुनः एक नये पत्रांक से सम्यक्सम्बुद्ध भाषितप्रतिमालक्षण पाँच पत्रों में पूर्ण दिया गया है। अनन्तर आत्रेय तिलक पूर्ण दिया गया है।

उपर्युक्त सभी पाण्डुलिपियों, मुद्रित पाठों एवं भोटानुवाद के साथ सम्यक् अनुशीलन से ही इसका परिष्कृत संस्करण तैयार हो पायेगा। साथ ही इसके सम्पादन में मूर्तिविज्ञान का सम्यक् अध्ययन एवं विशेषज्ञता भी अपेक्षित होगी। माप की संख्याओं का निर्धारण परम्परागत विशेषज्ञों से ही हो पायेगा। सम्प्रति इस विषय के जिज्ञासु विशेषकर धीः के पाठकों के समक्ष यथालब्ध पाठ को ही प्रस्तुत किया जा रहा है।

सम्यक्सम्बुद्धभाषितं प्रतिमालक्षणम्

नमो बुद्धाय ।

[एवं मया श्रुतमेकस्मिन् समये] बुद्धो भगवान् जेतवने विहरति स्म । तुषितवरभवनात् मातुर्धर्मदेशनागमनकालसमये शारिपुत्रो भगवन्तमेतदवोचत् । भगवन् भगवता गते परिनिर्वृते वा श्राद्धैः कुलपुत्रैः [कुलदुहितृभिश्च] कथं प्रतिपत्तव्यम् । भगवानाह—शारिपुत्र ! मयि गते परिनिर्वृते वा न्यग्रोधपरिमण्डलं कायं कर्तव्यम् । यावत्कायं तावद्व्यामं यावद्व्यामं तावत्कायं पूजासत्कारार्थं प्रतिमा कर्तव्या । सर्वाङ्गो-पाङ्गावयवस्थौल्यलावण्यलालित्यसलीलत्वं छत्राकारं शिरःस्कन्धां (धसु) संस्थितोष्णीष-त्वादिसुसंस्थानात् । तत्रायामविस्तारोच्छेद (त्सेध) सन्धिबन्धनिर्गमैः प्रमाणं बोधिसत्त्वानां सुगतानाञ्च प्रवक्ष्यामि तच्छृणु । तत्र तावत् प्रमाणं बोधिसत्त्वानां स्वेनाङ्गुलीप्रमाणेन शतं विंशत्युत्तरम्, बुद्धानां पञ्चविंशत्युत्तरम् ।

चतुरङ्गुलमुष्णीषं केशस्थानं तथैव च¹ ।
सार्द्धत्रयोदशी (शी) मात्रा मुखभागश्च तत्रयम् ॥ 1 ॥

ललाटं नासिकाश्चाधश्चिबुकान्तं तृतीयकम् ।
चतुरङ्गुलं ललाटं [च] तुल्यं नासिकया भवेत् ॥ 2 ॥

साधिकं चिबुकान्तं तु चिबुकं द्व्यङ्गुलं भवेत् ।
²आयामं निर्गमाच्चैव चतुरङ्गुलमिष्यते ॥ 3 ॥

चतुरङ्गुलौ कपोलौ तु कर्णमूलाद्विनिःश्रि (सृ) तौ ।
हनुः स्यात्त्र्य³ङ्गुलोच्छेदो (त्सेधो) विस्तारे द्व्यङ्गुलश्च सः ॥ 4 ॥

⁴साऽधिकः परिपूर्णः स्यान्महासिंहहनुर्यथा ।
अधरो द्व्यङ्गुलायामो निर्गमोच्छेद (त्सेध) मात्रिकः ॥ 5 ॥

1. ततो द्वयम् - क.
2. आयामनिर्गमाभ्यां च - टी.
3. द्व्यङ्गुलो - टी.
4. सोऽधिकः - टी.

मध्ये स्याच्छोभना रेखा सृक्कणी¹ मातृके स्मृतौ ।
चतुरङ्गुलमायामं वक्त्रं कुर्याद्विचक्षणः ॥ 6 ॥

यथोपपन्नस्थानाश्चत्वारिंशद्दशनाः स्मृताः ।
उत्तरोष्ठोऽङ्गुलार्द्धः स्यात्तथैवोच्छेद(त्सेध)निर्गमः ॥ 7 ॥

त्रिभागाङ्गुलिका कार्या गोधिस्तस्यैव च स्थिता² ।
नासा द्व्यङ्गुलविस्तारा सार्द्धमङ्गुलमुन्नता ॥ 8 ॥

अर्द्धाङ्गुले समे वृत्ते नासायाः श्रोतसी स्मृतौ(ते) ।
नासावंशः समो मध्ये विस्तारेणार्द्धमात्रिकः ॥ 9 ॥

नेत्रान्तरोऽङ्गुले ज्ञेयो नेत्रे च चतुरङ्गुले ।
विस्ताराद्व्यङ्गुलौ मध्ये तयोस्तारा त्रिभागिकी ॥ 10 ॥

दृष्टिः स्यात्पञ्चभागेन द्व्यङ्गुलं त्र्यङ्गुलं तयोः ।
अङ्गुलस्य चतुर्थांशो विसृ(स्तृ)तोऽक्षिः समुदगकः ॥ 11 ॥

पद्मपत्राकृतिः कार्यो नेत्रकोशोऽङ्गुलित्रयम् ।
करवीरसमं सूत्रं नेत्रयोः नासिकापुटे ॥ 12 ॥

तारा समे च चिबुके सृक्कणी परियोजयेत् ।
अन्तरस्तु भ्रुवः कार्यं विस्तृतं सार्द्धमङ्गुलम् ॥ 13 ॥

मध्ये चोर्णात्र विज्ञेया शुभा पूर्णेन्दुसन्निभा ।
नासिकावत्स(वंश)सूत्रोर्णा तथा मूर्ध्व(र्ध)जसंस्थितम् ॥ 14 ॥

शिरोमणिः स विज्ञेयः सुप्रभो विमलस्तथा ।
चतुरङ्गुलमुच्छेदाल्ललाटोपरि मस्तकम् ॥ 15 ॥

1. शृङ्खिणी - क.

2. गाचीतस्यैचिस्थिताः - क., गाजी - ख.

छत्राकारं शुभत्रीलं दक्षिणावर्त्तस्तूर्ध्वजम् ।
भुरेखा स्याच्चतुर्मात्रा कर्णाग्रं चापि तत्समम् ॥ 16 ॥

निःसृतौ द्व्यङ्गुलौ कर्णौ तयोः पत्रार्द्धमात्रिकः ।
उच्छेदो(त्सेधो) मात्रिको ज्ञेयः श्लिष्टश्रोत्रार्द्धमात्रिकाः ॥ 17 ॥

अङ्गुलस्य चतुर्थासः(शः) कर्णावर्त्तस्तु विस्तरैः ।
सार्द्धमात्रेऽङ्गुले द्वे स्यात् कर्णस्त्वन्तरभागतः ॥ 18 ॥

पार्श्वौ स्यातां यथाशोभं केशाश्चापि तथैव च ।
अर्द्धपञ्चममात्रञ्च कर्णपत्रमपाङ्गतः ॥ 19 ॥

कर्णात्कर्णान्तविज्ञेयो मस्तकोऽष्टादशाङ्गुलः ।
चतुर्दशाङ्गुलं पृष्ठं तयोरन्तरमिष्यते ॥ 20 ॥

चत्वारिंशन्मात्रञ्च शिरः स्यात्परिणाहतः ।
ग्रीवोच्छेदा(त्सेधा) चतुर्मात्रा विस्तारादष्टमातृका ॥ 21 ॥

परिणाहाच्च कर्तव्या चतुर्विंशतिमातृका ।
ग्रीवान्तान्यङ्गुलान्यष्टौ स्कन्धांसो(शो) द्वादशाङ्गुलः ॥ 22 ॥

विनान्तरांशो वृत्तश्च स्कन्धः स्याल्लक्षणावितः ।
चत्वारिंशतमात्राणि बाहौ चायाममिष्यते ॥ 23 ॥

बाहुर्विंशतिमात्रस्तु प्रबाहुः षोडशस्तथा ।
द्वादशाङ्गुलहस्ताग्रं मणिबन्धात्प्रकीर्तितः ॥ 24 ॥

कुकुणीमणिबन्धाभ्यामङ्गुलञ्चाङ्गुलं स्मृतम् ।
बाहौ मध्यपरिक्षेप इष्टो विंशतिमातृकः ॥ 25 ॥

प्रबाहुः षोडशः[श्व] स्यादद्विषदको मणिबन्धने ।
आयामं सप्तकं पाणौ तलविस्तारपञ्चकम् ॥ 26 ॥

शङ्खञ्चक्रं तले न्यस्तं पद्म चाकुलिशाङ्कुशम् ।
सर्वलक्षणरूपिण्यो ले(रे)खाः कार्याः पृथग्विधाः ॥ 27 ॥

पञ्चाङ्गुलायता मध्या पर्वाद्धोना¹ प्रदेशिनी ।
अङ्गुलार्द्धविहीना तु कर्तव्या स्यादनामिका ॥ 28 ॥

अनामिकातः पर्वाणां कर्तव्या तु कनीयसी ।
त्रिपर्वाङ्गुलयः सर्वाः पर्वाद्धेन नखाः[शु]भाः ॥ 29 ॥

मणिबन्धोपरिष्ठात्तु सोऽङ्गुष्ठश्चतुरङ्गुलः ।
तावानेव परिक्षेपः पर्वाद्धेन नखश्च सः ॥ 30 ॥

अङ्गुष्ठात्तु प्रदेशिन्या अन्तरं त्र्यङ्गुलं स्मृतम् ।
कनीयसी मणिबन्धाद्भवेत्पञ्चाङ्गुलायतः ॥ 31 ॥

अग्रहस्तपरिक्षेपो विज्ञेयो द्वादशाङ्गुलः ।
दैर्घ्यात्तृतीयभागः स्यात् स्वाङ्गुलीनां परिग्रहः ॥ 32 ॥

ग्रीवाहृदययोर्मध्ये सार्द्धद्वादशमात्रिकः ।
हन्नाभ्यो[श्च] चतुश्चैव स्तनयोरपि चान्तरम् ॥ 33 ॥

स्तनयोरुपरिष्ठाच्च कक्षे कार्ये षडङ्गुले ।
तदूर्ध्वं पुनरास्कन्धान्नवमात्रा प्रकीर्तिता ॥ 34 ॥

उरसोऽपि च विस्तारः पञ्चविंशतिमात्रिकः ।
परिणाहादुरः कार्यो विस्तारात्त्रिगुणं शुभम् ॥ 35 ॥

स्तननाभ्यन्तरे(रं) चैव षोडशाङ्गुलमिष्यते ।
अवेधः सन्धिरन्धाभ्यां नाभिमण्डलमङ्गुलम् ॥ 36 ॥

नाभिमध्यात् परिक्षेपः षट्चत्वारिंशदङ्गुलः ।
अष्टादशाङ्गुलं चैव विस्तारेण कटिर्भवेत् ॥ 37 ॥

1. ध्वेन - क., पूर्वार्धेन - ख.

नाभिमेढ्रोन्तरञ्च स्यात् सार्द्धद्वादशमात्रिकः ।

तदर्द्धेन तु मेढ्रः स्यादपानपरिणाहतः ॥ 38 ॥

पञ्चमात्रायतौ लम्बौ वृषणौ चतुरङ्गुलौ ।

पञ्चमात्राणि चत्वारि विस्तारायामतस्तयोः ॥ 39 ॥

ऊरू समाहितौ कार्यौ पञ्चविंशतिमात्रिकौ ।

सुविस्तारं तयोर्मध्यं मापयेद्द्वादशाङ्गुलम् ॥ 40 ॥

परिणाहेऽपि कर्तव्यं शुभं षट्त्रिंशदङ्गुलम् ।

मध्ये.....चतुरङ्गुलं तु जानुतः ॥ 41 ॥

सन्धिबन्धश्चतुर्मात्रा त्रिद्विकं जानुगुल्फकम् ।

गूढगुल्फं सिरास्थित्वं सुकुमारौ स्तयौ (?) शुभौ ॥ 42 ॥

ऋजुवृत्तायते जंघा(घे) पञ्चविंशतिमात्रिके ।

तयोर्मध्ये परिणाह एकविंशतिमात्रिकः ॥ 43 ॥

चतुर्दशाङ्गुलाऽयता गुल्फान्ताश्चतुरङ्गुलम् ।

गुल्फो द्वादशकायामः पादः पादार्द्धविस्तरः ॥ 44 ॥

पाश्र्वौ द्व्यङ्गुलविस्तारौ पाष्णी च चतुरङ्गुले ।

षडङ्गुलं त्व(सु)विस्तारं त्रिगुणं परिणाहतः ॥ 45 ॥

पञ्चाङ्गुल्यो द्विपर्वाणि पर्वार्द्धेन नखाः स्मृताः ।

पञ्चाङ्गुलं परिक्षेपादङ्गुष्ठस्यङ्गुलायतः ॥ 46 ॥

अङ्गुष्ठकसमा चैव आयामेन प्रदेशिनी ।

षोडशाष्टाष्टभागेन शेषा हीनाः परस्परम् ॥ 47 ॥

अङ्गुल्यो मात्रिकोच्छ्रे(त्से)धादङ्गुष्ठः सार्द्धमात्रिकः ।

तत्र ताम्रनखाः सार्द्धा¹ अङ्गुलाः कोमलायताः ॥ 48 ॥

कूर्मपृष्ठसमौ पूर्णौ पादौ बहिरलंकृतौ ।
समश्लिष्टानताच्छिद्रौ सुप्रतिष्ठतः (ष्ठित) लक्षणैः ॥ 49 ॥

तयोस्तलं सुचक्रादिचित्राकारं तु कारयेत् ।
पादावत्र¹ प्रशंसन्ति सर्वज्ञा हतकिल्बिषाः ॥ 50 ॥

कुक्कुटाण्डं तिलाकारं चतुरस्त्रं सुवर्तुलम् ।
सर्वसामान्यलिङ्गानां मुखमेतच्चतुर्विधम् ॥ 51 ॥

महानरसुरस्त्रीणां कुक्कुटाण्डं तिलाकृतिः ।
²लावण्यं दर्शनीयं तत् कारयेत् मुखद्वयम् ॥ 52 ॥

प्रेतभूतपिशाचानां रक्षसां विकृताकृतिः ।
मण्डलं चतुरस्त्रं च कारयेत्तु मुखद्वयम् ॥ 53 ॥

समा दृष्टिः प्रसन्ना च बुद्धानामवलोकने ।
नाधो नोर्ध्वं न दैन्येन संयुक्तं सर्वदर्शिनाम् ॥ 54 ॥

॥ इति सम्यक्सम्बुद्धभाषितं प्रतिमालक्षणं समाप्तम् ॥

•

1. पादाधृतं - क.

2. लावण्यदर्शनायैतत् - ख.

प्रतिमालक्षणविवरणम्

ॐ..... भगवता यदेवोक्तं बुद्धाकृतौ फलम् ।
 लक्षणं बुद्धमूर्त्तीनां तदेवात्रापि लिख्यते ॥
 सर्वलक्षणसंपूर्णा प्रतिमा सुखदायिका ।
 तद्विहीना यदा यस्मात् दान्त(या स्यादन्ते) दुःखप्रदायिका ॥

किं तत्सुखम् । तदाह—यावन्तः परमाणवो भगवत्स्तूपेषु बिम्बेषु वा तत्कर्तुर्दिवि भूतले च नियतं तावन्ति राज्या.....रूपासनाधिसंपदम्विना भुक्त्वा च सर्व... प्राप्ते जन्मजराविपत्तिरहितं प्राप्नोति बौद्धपदम् । अतो रूपकायस्य लक्षणमाह—तत्र सम्यक्सम्बुद्धानां महावज्रधराणाञ्च दैर्घ्येण कायस्य बाहुद्वय-पार्श्वप्रसारितव्यामेनापि किं प्रमाणम् । स्वकीयाङ्गुलेन सार्द्धद्वादशाङ्गुलस्तालिस्तेन पञ्चविंशत्यधिकशताङ्गुलम् । लोचनादिदेवीनां द्वादशाङ्गुलस्तालिस्तेन नवताले-नाष्टोत्तरशताङ्गुलायामो व्यामश्च । बोधिसत्त्वानाञ्च द्वादशाङ्गुलैर्दशतालकमेव । खर्व्वलम्बोदरक्रोधानाञ्च षण्णवत्यङ्गुलमष्टतालेन । ललत्क्रोधानां तु दशतालेन विंशत्युत्तरशताङ्गुलायामव्यामाभ्यां सर्वाङ्गोपाङ्गोदितं ज्ञातव्यम् । “शास्तुर्द्धर्म-देशनागमनसमये शारिपुत्रो भगवन्तमेतदवोचत्—भगवन् भगवता विना श्राद्धैः कुलपुत्रैः कुलदुहितृभिश्च कथं प्रतिपत्तव्यम् । भगवानाह—शारिपुत्र ! मयि गते परिनिर्वृते वा न्यग्रोधपरिमण्डलं यावद्व्यामं तावत् कायं यावत्कायं तावद्व्यामं पूजासत्कारार्थं प्रतिमा कर्तव्या । सर्वाङ्गोपाङ्गावयवस्थौल्यलावण्यलालित्य-सलीलत्वं सप्तोत्सदमहाहनुत्वं छत्राकारशिरःस्कन्धसुसंस्थितोष्णीषत्वादि-सुसंस्थाना । तत्रायामे विस्तारोत्सेधसन्धिबन्धननिर्गमैः प्रमाणं बुद्धमूर्त्तीनां बोधिसत्त्वानां च” इति वचनात् । तत्र लावण्यं स्निग्धच(ध)र्मता । लालित्यं मनोहरता । सलीलत्वं त्रिभङ्गत्वादिगुणेन । सप्तोत्सदेति सप्तावयवाः । उत्सदा उच्छ्रया उन्नताश्चेति पर्यायाः । कतमे पादद्वयं हस्तद्वयं स्कन्धद्वयं ग्रीवा चेति । अपरं प्रसिद्धमेव किञ्चिदुन्नतिरुच्छे(त्से)धः । तत्र चतुरङ्गुलमुष्णीषं केशस्थानञ्च तथैव ललाटनासिकाधश्चिबुकान्तं चतुर्यवाधिकचतुरङ्गुलम् । एतेनार्द्धत्रयोदशीमात्रा

मुखभागः। चिबुकं द्व्यङ्गुलं भवेत्। आयामनिर्गमाभ्याञ्चैव चतुरङ्गुलमिष्यते।
चतुरङ्गुलौ कपोलावाकर्णमूलाद्विनिर्गतौ। चक्षुरधश्चर्मणोऽधोभागा हनुः स्यात्
द्व्यङ्गुलोत्सेधो विस्तारात् द्व्यङ्गुलश्च सः। बोधिसत्त्वापेक्षः सोऽधिकः परिपूर्णः
स्यान्महासिंहहनुर्यथा। संबुद्धमहावज्रधराणां किञ्चिदुन्नत इत्यर्थः। क्रोधानां तु
चिपिटो विस्ताराधिकः। अधरो द्व्यङ्गुलायामो निर्गमोत्सेधमात्रिकः। अङ्गुल्या-
स्तृतीयभागो मात्रिक इति। अधरमध्यं बिम्बफलवत्। एकाङ्गुले सूक्कणी।
चतुरङ्गुलायामं वक्त्रं यथोपपन्नविन्यासश्च चत्वारिंशदशनानां राजददन्तादिक्रमेण।
उत्तरोष्ठोऽङ्गुलार्धश्चतुर्यवो निर्गमोत्सेधाभ्याम्। नासाग्राऽधरष्टाङ्गुलस्त्रिभागा
प्रणीलाकारा श्मश्रुमथ्या। गोधिः नासाद्व्यङ्गुलविस्तारा सार्द्धाङ्गुलोन्नता। बुद्धानां
किञ्चिदधिका। अतिक्रोधानां किञ्चिच्चिपिटो पार्श्वनिर्गता। अर्द्धाङ्गुलसमे वृत्ते
श्रोतसी। तस्या नासावंसो(शो) नासाग्रमवक्रो विस्ताराद्धाङ्गुलः। चतुरङ्गुलश्चक्षुः
कोषः। तन्मध्यमेकाङ्गुलं विस्तारात् मध्ये द्व्यङ्गुलम्। भ्रूवोरधस्तादारभ्याधः पर्यन्तं
त्र्यङ्गुलिः। चक्षुषोरन्तरे नासामूलमेकाङ्गुलं भ्रूचतुरङ्गुलायताचापाकारा।
अर्द्धाङ्गुलविस्तारा मध्ये वज्रधरस्य। क्रोधानां तु कुटिला। बुद्धानां ध्यानदृष्टीनां
द्वियवविस्ताराद् द्व्यङ्गुलषट्यवाधिकायामाच्चापाकारं बोधिसत्त्वानां तु चतुर्यव-
विस्तारात् विंशतियवायामादुत्पलम्। सर्वासां शृङ्गारस्त्रीणां अष्टादशयवायामेन
षट्यवविस्तारात् मत्स्योदराकारम्। चतुर्यवकरवीरं नासासमीपं नेत्रान्तः। अपर-
नेत्रान्तोऽपाङ्गश्चतुर्यवः। त्र्यङ्गुलश्चक्षुर्मणिः। पिटकेन द्वियवोन्नतः। कालिका साति-
रेकपञ्चयवप्रमाणा सूक्कणीसूत्रमादृष्टिर्मध्यपुत्तलिका। सार्द्धाङ्गुलस्यैव पञ्चभागेन
विस्तारेणैकाङ्गुलं तारात्रिभागिकाऽङ्गुलस्य चतुर्थांशः प्रकाशितो अक्षिपुत्रकः।
पद्मपत्राकृति[कार्यो]नेत्रकोशोऽङ्गुलत्रयम्। करवीरसमसूत्रं नासिकापुटस्य।
तारासमं चिबुकं सूक्कणी तथा। भ्रुवोर्मध्यं सार्द्धाङ्गुलम्। तत्रैवोष्णा एकाङ्गुला
पूर्णचन्द्रनिभा। नासा ऊर्णा उष्णीषसमं सूत्रम्। भ्रुवो रेखासमौ कर्णौ। आयामेन
चतुरङ्गुलौ द्व्यङ्गुलविस्तारौ तत्पत्रं च यवम्। तयोरूर्ध्वपत्रं चतुर्यवं नतमूचे-
मै(मुच्चैरे)काङ्गुलम्। विलं चतुर्यवम्। कपोलकर्णच्छिद्रयोर्मध्ये कर्णावर्तः
फलिकाकारो द्वियवः। कर्णलता चतुरङ्गुली दीर्घतः स्थूला यथा शोभना।

पूर्वमुष्णीषादिग्रीवापर्यन्तं चतुर्यवाधिकविंशत्यङ्गुलमुक्त्वा इदानीं ग्रीवादि-
गुल्फाधः पर्यन्तस्य विभागः क्रियते। ग्रीवा चतुरङ्गुला। ग्रीवातो हृदयं सार्द्ध-
द्वादशाङ्गुलम्। हृदयात्राभिपर्यन्तं तथा नाभेरागुह्यं सार्द्धद्वादशाङ्गुलम्। ऊरुः
पञ्चविंशत्यङ्गुलम्, जंघापि तथा। जानुः षडङ्गुलम्। द्व्यङ्गुलो गुल्फः।
गुल्फादधश्चतुरङ्गुलमेति सम्यक्संबुद्धवज्रधरबोधिसत्त्वादीनां दशतालस्य कथितो
विभागः। अन्येषां तु यथायोगमुन्नेयम्।

यथाशोभं शिरोमणिर्विमलः कार्यः। उष्णीषं मध्यस्थीकृत्य द्वादशाङ्गुलं
जटामुकुटं वज्रधरस्य। वीराणां बोधिसत्त्वानां चाष्टाङ्गुलं जटाजूटं मकुटं चेति
विशेषः। दशाङ्गुलमिति केचित्। उष्णीषाधो वेष्टनेन द्वादशाङ्गुलम्। ललाटो-
परिच्छत्राकारम्। नीलदक्षिणावर्तमूर्ध्वजम्। उन्नतमस्तकां(कं) कर्णसंमुख-
पृष्ठवेष्टनेन द्वात्रिंशदङ्गुलमस्तकम्। ग्रीवा चाष्टाङ्गुलविस्तारा। तस्या वेष्टनं
चतुर्विंशत्यङ्गुलम्। ग्रीवाया अष्टाङ्गुलं हित्वा कर्णसमीपे चतुरङ्गुलेन सह
द्वादशाङ्गुलस्कन्धावृत्तः स्थाणुक्षोणान्वितः। कृशतारहितस्कन्धात् कफोणेरुर्ध्वं
विंशत्यङ्गुलो बाहुः कफोणिरेकाङ्गुला। कफोणेरधस्तान्मणिबन्धादूर्ध्वं प्रबाहुः
षोडशाङ्गुलः। एकाङ्गुलो मणिबन्धः। मणिबन्धादधो मध्याङ्गुल्यग्रपर्यन्तं
द्वादशाङ्गुलो हस्तः। एवं पञ्चाशदङ्गुलम्। बाहौ मध्यवेष्टनं विंशत्यङ्गुलम्।
उपबाहोर्मध्यवेष्टनं षोडशाङ्गुलम्। मणिबन्धे वेष्टनं द्वादशाङ्गुलम्। मणिबन्धात्
सप्ताङ्गुलं करतलम्। मध्याङ्गुली पञ्चमात्रा। तस्याः पर्वाद्धोना प्रदेशिनी।
अनामिका तत्समा। पर्वाणां कनीयसी। सर्वाङ्गुल्यस्त्रिपर्वाः। पर्वाद्धेन
नखास्तासाम्। मणिबन्धाच्चतुरङ्गुलं त्यक्त्वा नखाग्रं यावच्चतुरङ्गुलोऽङ्गुष्ठः।
द्विपर्वः पर्वाद्धेन नखः। अङ्गुष्ठो वेष्टनेन चतुरङ्गुलः। अङ्गुष्ठप्रदेशिन्योरन्तरं
त्र्यङ्गुलम्। मणिबन्धात् कनीयसीमूलपर्यन्तं पञ्चाङ्गुलम्।

स्कन्धात् कक्षपर्यन्तं नवाङ्गुलम्। कक्षात् स्तनं यावत् षडङ्गुलम्। उरः-
पृष्ठयोर्वेष्टनं षट्पञ्चाशदङ्गुलम्। स्तनयोर्मध्यं सार्द्धद्वादशाङ्गुलम्। स्तननाभ्योर्मध्यं
षोडशाङ्गुलम्। नाभिमारभ्य वृष्टेन (पृष्टेन) स[ह] नाभिं यावत् षट्-
चत्वारिंशदङ्गुलं नाभेर्निमूतयो एकाङ्गुलं परिणाहं च। तथा विस्तेरेणाष्टादशाङ्गुला

कटिः स्फिच्चौ चतुरङ्गुलौ विस्तारायामौ । ऊरुमूलयोर्मध्यं द्वादशाङ्गुलम् । वेष्टनेन त्रिगुणम् । तयोर्मध्य आयामेन पञ्चाङ्गुलौ विस्तारेण चतुरङ्गुलौ अण्डकोषौ । तदुपरि द्व्यङ्गुलं विस्तारेण गुह्यं दैर्घ्येण द्वियवाधिक-षडङ्गुलम् । उरुमध्यं वेष्टनेन द्वात्रिंशदङ्गुलम् । जानुवेष्टनमष्टाविंशत्यङ्गुलम् । जंघामध्यवेष्टनं चतुर्विंशत्यङ्गुलम् । जंघाधो वेष्टनमेकविंशत्यङ्गुलम् । पादग्रन्थेरधः पाष्णीं चतुरङ्गुले । अध ऊर्ध्वतः षडङ्गुले । तिर्यक्विस्ताराच्च परिणाहेनाष्टादशाङ्गुले ।

गुल्फात्परतोऽङ्गुष्ठनखाग्रं या[व]त् पादौ द्वादशाङ्गुलौ विस्तारेण षडङ्गुलौ । अध ऊर्ध्वेन द्व्यङ्गुलविस्तारौ पादयोः पाष्णीं । पादाङ्गुल्यः पञ्च द्विद्विपर्वा । तासां मध्यपर्वाद्धेन नखाः । पादाङ्गुष्ठः पञ्चाङ्गुलः परिणाहेन दैर्घ्येण त्र्यङ्गुलः, तत्समा प्रदेशिनी । तस्याः सार्द्धपर्वानां मध्यमा । तस्या अष्टम-भागोनानामिका । तस्या अप्यष्टमभागोना कनीयसी । अङ्गुल्य एकाङ्गुलोन्नताः । अङ्गुष्ठाग्रौ सार्द्धाङ्गुलोन्नतौ । बहिरुपरिपादौ कूर्मपृष्ठसमौ । अधस्ताच्चक्रादि-भिरलङ्कृतौ ।

कुक्कुटाण्डतिलाकारं चतुरस्रञ्च मण्डलम् ।

सर्वसामान्यलिङ्गानां मुखाकृतिश्चतुर्विधा ॥

संबुद्धानां महावज्रधराणां च मुखं कुक्कुटाण्डाकारम् । लोचनादि-देवकन्यानां तिलबिम्बाकारम् । मैत्रेयादिमहाबोधिसत्त्वानां महावज्रधरवन्मुखम् । खर्वलम्बोदरक्रोधानां मण्डलाकारं वृत्तमुखम् । ललितक्रोधानां तु बोधिसत्त्ववत् । प्रेतादीनां तु चतुरस्रं मुखम् । लावण्यदर्शनं मुखद्वयम् । चतुरस्रमण्डलं मुखद्वयं विकृताकारम् ।

समे दृष्टि(ष्टी)प्रसन्नास्ये सौम्यस्निग्धावलोकने ।

सार्द्धेन दैन्ययुक्तेऽधः कर्तव्ये सर्वदर्शिनाम् ॥ इति ।

लोचनादि योगिनीनां उष्णीषगुह्योरुपृष्ठवेष्टनात् दशाङ्गुलेन सह पीनघन-कुचौ । नाभाववेष्टनात् दशभागं हित्वा कटिस्थलं पीनं कर्तव्यम् । बोधिसत्त्व-मानादुरसो दशभागेन गुह्यांशेन च वीरिणीना(नां) कुचयुग्मम् । कटिस्थलं तु पूर्ववत् । काकास्यादीनां तत्तालद्वयेन स्तनादौ पीनता । भगवतः श्रीसंवरस्य

पूर्वकृतलक्षणे मुखक्षेत्रे चतुर्यवं हित्वा द्वादशभागिकविस्तारे अधः कोणयोरेक-
 सार्द्धद्विसार्द्धद्विभागहरणवर्तनात् भगवतो मूलवामदक्षिणपश्चिमवक्त्राणि । भगवतो
 दक्षिणखगाण्डमुखवद् वज्रवाराहीखण्डरोहारूपिणीदेवकन्यानां च पश्चिम-
 मुखवत्तिलबिम्बाकारं डाकिन्याः पूर्वमुखवत् लामायाः वाममुखवत् चूताभं
 वीरवीरेश्वरीणाञ्च । काकास्यादीनां काकादिमुखमेव भगवतो वामदक्षिणमुखं च
 कुर्वद्धसितत्रसितबुभुक्षितानामिवेति विशेषः । इन्द्र-ईशानवायुवरुण-उपेन्द्रपितामहा
 नवतालाः खगाण्डमुखाः । वेमचित्रिनैर्ऋतिषट्तालाः क्रोधस्वभावाः । कुबेरानलौ
 ललितखर्वावष्टतालौ खगाण्डमुखौ । सौम्यग्रहाः सूर्यश्च शक्रवन्मानमानिताः । क्रूराः
 क्रोधस्वभावाः । अर्द्धकायो राहुः । अधःकायनागाकारः केतुः । सर्वनागा
 नवतालाः खगाण्डमुखाः । वटुवामनहेरम्बः कर्तव्यः पञ्चतालिकः । तत्र तालैकेन
 मुखः ग्रीवात आगुह्यं यावत्तालद्वयेन गुह्यतः पादतलं यावत्तालद्वयेनेति पञ्चतालम् ।
 तत्र संबुद्धाः करुणाभूतशान्तरसोपेताः वज्रधरमुखं सर्वशरीरं नवरसरसाविष्टम् ।
 बोधिसत्त्वादयस्तु शृङ्गाररसाधिकाः इति प्रस्तारः कथितः ॥

॥ इति सम्यक्सम्बुद्धभाषितं प्रतिमालक्षणविवरणं समाप्तम् ॥

•

1. उपलब्धमातृकायां इतः परं "तस्या मूर्तेर्लक्षणव्यञ्जनानुव्यञ्जनानि कथ्यन्ते ।"अग्रे खण्डितम् ।

आत्रेयविरचितम्
आत्रेयतिलकम्
(प्रतिबिम्बलक्षणम्)

ĀTREYATILAKAM
(PRATIBIMBALAKṢAṆAM)
OF
ĀTREYA

आदर्श प्रतियाँ—

- क. - राष्ट्रीय अभिलेखालय, काठमाण्डू, नेपाल, सं० 3/259
- ख. - इंस्टीच्यूट फॉर एडवांस स्टडीज़ ऑफ वर्ल्ड रिलिजन्स,
न्युयार्क, एम० बी० बी० I-61
- भो० - སྐུ་གཟུགས་ཀྱི་ཚད་ཀྱི་མཆོད་ཉིད་ཅེས་བྲ་བ།
(Toh. 4316)

आत्रेयतिलकम् (प्रतिबिम्बलक्षणम्)

नमो बुद्धाय ।

आत्रेयतिलके बौद्धशास्त्रेऽन्यत्र पुरातनैः ।
उक्तं यत्पूर्वमुनिभिः प्रतिमामानलक्षणम् ॥ 1 ॥

तत्संहृत्येह चैकत्र पिण्डीकृत्य यथाक्रमम् ।
नत्वा सर्वविदं देवमर्चालक्षणमुच्यते ॥ 2 ॥

द्वादशाङ्गुलितालञ्च वितस्तिर्मुखमेव च ।
१ ज्ञेयमेवाचर्च(चा)नामेतत् द्व्यङ्गुलं गोलकं कला ॥ 3 ॥

पल्लवानां चतुर्भागो मापनाङ्गुलिका स्मृता ।
ततोऽङ्गु²ल्यष्टभागेन यवं विन्द्याद्विचक्षणः ॥ 4 ॥

अर्चानामङ्गु³प्रत्यङ्गमापनार्थमिति स्मृतम् ।
अनेनैव विधानेन मापयेत्प्रतिमां बुधः ॥ 5 ॥

यत्किञ्चिद्रूपकायामं विभज्य नवभागतः ।
एकतालं मुखं कुर्याद्विस्तारञ्च तथैव च ॥ 6 ॥

वकाराकृति चूताभं मुखं⁴ खगाण्डाभं तिलाकृति ।
५ सार्द्धाङ्गुलविहीनं यत्तत् वकाराकृतीष्यन्त(ते) ॥ 7 ॥

-
1. ज्ञेयमेकार्थनामेतत् - भो.
 2. अङ्गुष्ठभागेन - ख.
 3. प्रत्यङ्ग - नास्ति - ख.
 4. मुखं..... भवेत् - नास्ति - ख., मुखं - नास्ति - भो.
 5. एकाङ्गुल - भो.

द्वयङ्गुलेन विहीनेन चूताभमाननं भवेत्¹ ।
 सार्द्धद्वयङ्गुलहीनं तु खगाण्डाकारमुच्यते ॥ 8 ॥

वर्जयेत्यङ्गुलं यत्तु नामधेयं तिलाकृति ।
 चतुर्णामपि वक्त्राणां कपोलेषु विवर्जयेत् ॥ 9 ॥

केवलं तिलसंस्थानं नारीणामिष्यते मुखम् ।
 अशास्त्रेण मुखं कृत्वा यजमानो विनश्यति ॥ 10 ॥

सशास्त्रेण मुखं कृत्वा बर्द्धते सहबान्धवैः ।
 2एवं शास्त्रागमं कृत्वा अर्चनां कारयेद्बुधः ॥ 11 ॥

द्विता(गो)लं शीर्षभागञ्च छत्राकारं प्रयोजयेत् ।
 3अङ्गुलार्द्धं द्विगोलञ्च ललाटं परिकीर्तितम् ॥ 12 ॥

तिर्य्यञ्चं ललाटस्य नियतं पञ्चगोलकम् ।
 द्विकलो द्वियवश्चैव नासिकायाम् उच्यते ॥ 13 ॥

द्वियवश्चाग्रविस्तारो निष्कासं सार्द्धमङ्गुलम् ।
 द्वयङ्गुलं पार्श्वयोरुर्ध्वं नाशा(सा)चययवत्रयम् ॥ 14 ॥

अर्द्धाङ्गुलिसमे वृत्ते वंशमूले यवद्वयम् ।
 श्रोतसी त्रियवे स्यातां शङ्खाकृतिसुशोभना(ने) ॥ 15 ॥

इति मानसमायुक्ता जिह्वापिण्डी प्रशस्यते ।
 तिलपुष्पसमाकारा शुकसेनमुखोपमा ॥ 16 ॥

-
1. भो.-इतः परं पदद्वयमधिकं वर्तते (अथ संस्थानलक्षणं चतुर्विधमित्युच्यते) ।
 2. 'एवं...बुधः' नास्ति-भो.
 3. अङ्गुल्यर्द्ध-ख.

१त्र्यङ्गुलं द्वियवं तस्य अधोभागं प्रचक्षते ।
षड्यवं भोजकं कुर्यादुत्तरोष्ठं चतुर्यवम् ॥ 17 ॥

त्रिभागाङ्गुलिका कार्या गोजी(धिः) तस्योपरिः स्थिता ।
अधरं भोजकं तुल्यं विस्तारमङ्गुलद्वयम् ॥ 18 ॥

निष्कासं षड्यवं मध्ये विश्वरेखां च कारयेत् ।
सृक्कणीं चाङ्गुलाद्धैन किञ्चिन्निम्नां तु कारयेत् ॥ 19 ॥

द्व्यङ्गुलं चिबुकं तिर्यग्गायामेन यवा दश ।
अर्द्धाङ्गुलं भ्रुवोर्मध्ये दीर्घं पञ्चाङ्गुलं भवेत् ॥ 20 ॥

यवार्द्धमाना भ्रूरेखा चापाकृतिरखण्डिता ।
द्व्यङ्गुलं द्वियवं नेत्रमायतं तन्ति(त्रि)भागतः ॥ 21 ॥

लोचनस्य त्रयो भागं (गा) तथा तारं प्रकीर्तितम् ।
तस्य भागत्रयं कुर्यादसितं संप्रकीर्तितम् ॥ 22 ॥

कुमुदोत्पलपत्राभं पद्मपत्रं २झषोदरम् ।
अपाङ्गे द्वे कले ज्ञेये नेत्रमध्यञ्च द्व्यङ्गुलम् ॥ 23 ॥

कर्णौ द्व्यङ्गुलविस्तारौ दीर्घं तु चतुरङ्गुलम् ।
पृष्ठतः कर्णनिष्कासं द्व्यङ्गुलं परिकीर्तितम् ॥ 24 ॥

तुटिका द्व्यङ्गुलं सम्पत्तदर्द्धा ककुना भवेत् ।
अङ्गुलस्य चतुर्थांशः कर्णवर्त्यास्तु विस्तरः ॥ 25 ॥

त्रि(द्वि)यवैः कर्णयोर्गुह्यं यथाशोभा च पाशिका ।
कर्त्तरीमूलसंस्थानं कर्णनालं प्रकीर्तितम् ॥ 26 ॥

-
1. एकाङ्गुल-भो.
 2. ह्यसौ०-क.

कर्णयोरुभयोर्मध्ये मस्तकोऽष्टादशाङ्गुलः ।
चतुर्दशाङ्गुलं पृष्ठं ललाटस्य न संशयः ॥ 27 ॥

भूरेखा नेत्रयोर्मध्ये गोलकं परिकीर्तितम् ।
अष्टाङ्गुलं भवेन्मध्यं चिबुकाकर्णमूलयोः ॥ 28 ॥

तथा चिबुललाटं च कर्तव्यं नेत्रयोः समम् ।
सृक्कणी तारका पार्श्वे समसूत्रेण मापयेत् ॥ 29 ॥

भूरेखा कर्णशीर्षं च समसूत्रेण ताडयेत्¹ ।
तुटिका नेत्रमध्यं च तथैव समताडनम्² ॥ 30 ॥

द्विगोलं मुखनिष्कासं ग्रीवायामस्तथैव च ।
स्कन्धमूलाच्छुतेर्मूलं यावत् स्यात् गोलकत्रयम् ॥ 31 ॥

चिबुकाधो³ यथाशोभं कर्तव्यं मांसवर्तन(तुल)म् ।
तदा लम्बप्रमाणेन गृहिणीं हासयेत्सनाक् ॥ 32 ॥

मौलिकोथ जटाबन्धः कुञ्चिताश्च शिरोरुहाः ।
किरीटि त्रिशिखं चैव मुकुटं खण्डमेव च ॥ 33 ॥

तेषामष्टाङ्गुलं दीर्घं कर्तव्यं नाधिकं ततः ।
मुखाता(खट्वा)रं प्रवक्ष्यामि शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥ 34 ॥

किञ्चित्प्रहसितं कुर्यान्माधुर्यलवणान्वितम् ।
कषायं कटुकं क्रुद्धमाम्लं च तिक्तमेव च ।
वक्त्रं वेदनसंस्थानं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ 35 ॥

1. मापयेत्-भो.

2. सममापनम्-भो.

3. अतः परं-ख. मातृकायाः सप्तम पत्रं (49 श्लोकस्य प्रथमपादं यावत्) नोपलभ्यते ।

- अतः परं प्रवक्ष्यामि देहानां मानलक्षणम् ।
 हिक्कातो नाभिपर्यन्तं द्विमुखं कारयेद्बुधः ॥ 36 ॥
- नाभितो वृषणामूलं तिर्यक् पार्श्वौ स्फिचौ तथा ।
 हिक्काचूचुकयोर्मध्ये चूचुकान्तरमेव च ॥ 37 ॥
- ग्रीवापार्श्वात् भुजाशीर्षं तालमेकं प्रकीर्तितम् ।
 नाभिचूचुकयोर्मध्ये भागश्चतुर्दशाङ्गुलम् ॥ 38 ॥
- समसूत्रं च कर्तव्यं हिक्का चांसाग्रमेव च ।
 अंसयोर्मध्यविस्तारः त्रितालः समुदाहृतः ॥ 39 ॥
- अक्षं (पृष्ठं) षडङ्गुलं कुर्यात्तथा कक्षस्तनान्त(र)म् ।
 एकगोलप्रमाणं च चूचुकापार्श्वमण्डलम् ॥ 40 ॥
- द्वियवं चूचुकं वृत्तं त्रियवं नाभिमण्डलम् ।
 निम्ना नाभिश्च कर्तव्या दक्षिणावर्तलाञ्छना ॥ 41 ॥
- त्र्यङ्गुलौ वृषणौ स्यातां मेढ्रं तु चतुरङ्गुलम् ।
 हि(स्फि)चावष्टाङ्गुलादूर्ध्वं पीनवृत्तौ सुशोभनौ ॥ 42 ॥
- भुजायामं प्रशंसन्ति तज्ज्ञा मुखचतुष्टयम् ।
 बाहू चाष्टकलौ स्यातां प्रबाहू नवगोलकौ ॥ 43 ॥
- त्रिगोलं करदीर्घं तं भावती मध्यमाङ्गुलिः ।
 कुर्याद् द्विगोलमङ्गुष्ठं तत्तुल्या च कनीयसी ॥ 44 ॥
- मध्यमाया नखाद्धेन हीना चानामिकाङ्गुलिः ।
 हीना नखेन विज्ञेया मध्यमस्य प्रदेशिनी ॥ 45 ॥
- अङ्गुष्ठस्य तु विस्तारं कल्पयेत् यवा नव ।
 सार्द्धमष्टयवं तिर्यक् मध्यमायाश्च योजयेत् ॥ 46 ॥

उभौ चाष्टयवं कृत्वा सप्तयवा कनीयसी ।
कनिष्ठा मूलतो बन्धं मणेः पञ्चाङ्गुलं मतम् ॥ 47 ॥

तत्प्रमाणेन जानीयात्तिर्यक् करतलस्य तु ।
अङ्गुष्ठमूलतो बन्धमणेर्यावद् द्विगोलकम् ॥ 48 ॥

अङ्गुष्ठमूलात्तर्जिन्या¹ मूलं सार्द्धकलं कलेत् ।
²अङ्गुल्यस्तास्त्रिपर्वाः स्युर्द्विपर्वोऽङ्गुष्ठको भवेत् ॥ 49 ॥

अङ्गुष्ठस्याङ्गुलीनां च समपर्वो विधीयते ।
सुवर्तिताग्रसूक्ष्माश्च सुसन्धाश्च प्रयोजयेत् ॥ 50 ॥

स्वाङ्गुलार्द्धं नखं तिर्यक् पर्वार्द्धदीर्घमेव च ।
मूलेऽर्द्धचन्द्रसंयुक्तं करजं कारयेद्बुधः ॥ 51 ॥

पाणिं पञ्चाङ्गुलं कुर्यात्तत्पार्श्वमङ्गुलद्वयम् ।
पूर्णं करतलं कुर्यात् शुभले(रे)खोपशोभितम् ॥ 52 ॥

हस्तरेखां प्रवक्ष्यामि देवानां शुभलक्षणम् ।
शङ्खं पद्मं ध्वजं वज्रं चक्रं स्वस्तिककुण्डलम् ॥ 53 ॥

कलशं शशिनं छत्रं श्रीवत्सांशुकमेव च ।
त्रिशूलं यवमालाश्च कुर्वीत वसुधां तथा ॥ 54 ॥

नाभिगुह्यकयोर्मध्येनोरुमूलं समं कलेत् ।
द्विवितस्त्युरुदीर्घत्वं जङ्घां दीर्घं मुखद्वयम् ॥ 55 ॥

जानुनी द्विकले स्यातां गुल्फाके(वे)ककलौ स्मृतौ ।
द्विकलौ पार्ष्णिकौ ज्ञेयौ पक्वबिम्बफलाकृतौ ॥ 56 ॥

1. ख.-पुनः प्रारभ्यते ।

2. अङ्गुष्ठ-ख.

अङ्घ्रेः सप्ताङ्गुलं तिर्यगायामेन दशाङ्गुलम् ।
चतुर्भागेन पादस्याङ्गुष्ठायामं विधीयते ॥ 57 ॥

तत्समा सूचिका हीना मध्यमा द्वियवेन तु ।
अनामिकानखाद्धेन हीनपर्वा कनीयसी ॥ 58 ॥

अङ्गुष्ठस्य च विस्तार एकादशयवः स्मृतः ।
सूच्यङ्गुष्ठकयोरग्रे चान्तरं त्रियवं भवेत् ॥ 59 ॥

सूच(ची) नवयवा तिर्यक् सार्द्धाष्टयवमध्यमा ।
अनामाष्टयवा तिर्यक्कीर्त्यते मानलक्षणे ॥ 60 ॥

बाले चूतकसंस्थानावङ्गुष्ठौ परिकीर्तिताः (तौ) ।
१कूर्मपृष्ठसमाकारं पादस्योपरि कारयेत् ॥ 61 ॥

जलूकपदसंस्थाना अङ्गुल्यः परिकीर्तिताः ।
पादौ समतलौ कार्यौ शुक्त्याकारा नखाः स्मृताः ॥ 62 ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि परिणाहस्य लक्षणम् ।
२षट्त्रिंशदङ्गुलं ज्ञेयं शिरसः परिमण्डलम् ॥ 63 ॥

ग्रीवाष्टाङ्गुलिविस्तारा त्रिगुणं परिमण्डलम् ।
कक्षयोर्मध्यविस्तारौ विंशत्यङ्गुलिरत्र तु ॥ 64 ॥

ऊन^३विंशतिकलं कुर्यात्परिणाहेन बुद्धिमान् ।
भुजयोर्मूलमध्याग्रमष्टषट्चतुरङ्गुलम् ॥ 65 ॥

स्वविस्तारप्रमाणेन मण्डलं त्रिगुणं भवेत् ।
कुक्षेश्च मध्यविस्तारो ज्ञेयः पञ्चदशाङ्गुलः ॥ 66 ॥

1. कूर्म.....परिकीर्तिताः--नास्ति-ख.
2. द्वात्रिंश-भो.
3. त्रिंशति-भो.

षोडशाङ्गुलिरस्याधः कटिरष्टादशाङ्गुलिः ।
षट्गोलमुरुमूले च जंघामध्ये षडङ्गुलिः ॥ 67 ॥

जङ्घान्ते द्विकलं विन्ध्याद्विस्तारत्वेन पण्डितः ।
एतेषामेव सर्वेषां मण्डलं त्रिगुणं भवेत् ॥ 68 ॥

तथाङ्गुलीनां सर्वेषां वृत्तत्वं यत्र विद्यते ।
पृष्ठतः शीर्षनिष्कासं कलमेकं प्रकीर्तितम् ॥ 69 ॥

पृष्ठाद् वंशसमं कुर्यात् स्फिचौ तुल्यावलम्बिनौ ।
ऊरू च पिण्डिका पार्णिः कुर्यात्तुल्यावलम्बिनः ॥ 70 ॥

पृष्ठस्य लक्षणं विन्ध्यादेतत्संक्षेपतो द्विजः ।
मुक्ताहारादिरसनाकटककेयूरकुण्डलम्¹ ॥ 71 ॥

वस्त्रसाटकविन्यासं शरीरस्थं च² कारयेत् ।
अथार्चानां गुणदोषौ चोच्येतेऽधिकहीनतः ॥ 72 ॥

दीर्घविस्तारसंयुक्तं दद्यात्स्थानं तु सुस्थिरम् ।
शिरश्च्छत्रसमं कार्यं धनधान्यसमृद्धिदम् ॥ 73 ॥

ललाटे सुभ्रु रेखा च शाश्वती ददतः श्रियम् ।
सुकृता सा भवेदर्चा जायते ससुखा प्रजाः ॥ 74 ॥

कम्बुग्रीवा भवेदर्चा सर्वसिद्धिकरी सदा ।
शरीरं सिंहसंस्थानं सुभिक्षबलवर्द्धनम् ॥ 75 ॥

भुजौ करिकराकारौ सर्वकामार्थसाधकौ ।
शस्यसम्पत्करं नित्यं सूदनं च सुभिक्षकृत् ॥ 76 ॥

1. कुण्डलः-ख.

2. भूषयेत्-भो.

रम्भोरुच्छागगोबृद्धिर्ग्रामबृद्धिः सुपिण्डका ।
सुपादा च भवेदर्चा शीलविद्याप्रसाधिका ॥ 77 ॥

इत्यर्चानां प्रशंसोक्ता हीनदोषमथाह च ।
दुर्भिक्षो राष्ट्रभङ्गः स्याद् हीना विस्तारदीर्घयोः ॥ 78 ॥

देहहीना भवेत् कुब्जो नासाहीना च रोगिकः ।
वामदृष्टिः पशोर्नाश ऊर्ध्वदृष्टिर्धनक्षयः¹ ॥ 79 ॥

अल्पाक्षी मण्डलाक्षी च केकराक्षी तथैव च ।
हीनदृष्टिरधोदृष्टिर्दूरतः परिवर्जयेत् ॥ 80 ॥

निम्नकुक्षिर्भवेदर्चा शस्यनाशं सदा भवेत् ।
उरुहीना भवेदर्चा गर्भं पतति शाश्वतम् ॥ 81 ॥

त्रयो ह्रस्वा महादोषो नासिका नेत्रमङ्गुलिः ।
त्रयो दीर्घा महादोषा जङ्घा ग्रीवा चिबुस्तथा ॥ 82 ॥

त्रयः सूक्ष्मा महादोषाः शिरः कर्णञ्च नासिका ।
त्रयः स्थूला महादोषाः सन्धिः कुक्षिर्नखस्तथा ॥ 83 ॥

त्रयो निम्ना महादोषा हस्तौ पादौ च लोचनौ ।
त्रयो ह्रस्वा महादोषा ग्रीवांसौ भुज एव च ॥ 84 ॥

इति दोषगुणं ज्ञात्वा कर्तव्यार्चा विपश्चिता ।
नवताललक्षणायामपरिणाहौ² संप्रकीर्तितौ³ ॥ 85 ॥

न च वक्त्रे ध्रुवं देवे अष्टाद्वा देवमानुषा ।
मानुष्यं अष्टतालं च जनन्या चाष्टसप्तमम् ॥ 86 ॥

1. क्षयम्-ख.
2. 'च द्वौ समौ' इत्यधिकम्-क.
3. इतः परं 'इति नवताललक्षणं समाप्तम्' इत्यधिकम्-भो.

मुखं (शुभं) षट्सप्ततालानां परिणाहे समुच्छ्रयम् ।
कीर्तिता(तं) च यथान्यायमात्रेयं लक्षणनिर्मितमिति ॥ 87 ॥

दीर्घं चाष्टमुखं कृत्वा देवीणां(नां) लक्षणं बुधः ।
मुखं षट्कलं कृत्वा देहं चैकादशकलम् ॥ 88 ॥

त्रिय(स्त्रियाः) ग्रीवास्तनश्चैव अङ्गौ चुचुमुखान्तरौ ।
सर्वे ते मुखं म(मू)र्द्धा च देवीनाञ्च विधीयते ॥ 89 ॥

मध्यं¹ चाष्टाङ्गुलं कृत्वा स्त्रोणी पञ्चकला स्मृता ।
कटी विंशाङ्गुलं कुर्यादुरु चैकादशौ कलौ ॥ 90 ॥

जानुनी अ(त्र्य)ङ्गुला चैव पिण्डी² वा विंशदङ्गुला ।
गुल्फं द्व्यङ्गुलं कुर्याद्देवीनां लक्षणं शुभम् ॥ 91 ॥

कृत्वा त्रिंशाङ्गुलं चैव शिरसि परिमण्डलम् ।
पञ्चाङ्गुलं भुजो मूलं त्रिगुणं मण्डलं भवेत् ॥ 92 ॥

त्र्यङ्गुलं मणिबन्धञ्च मण्डलानां तथैव च ।
ऊरुमध्ये कलाषड्भिस्त्रिगुणं परिमण्डलम् ॥ 93 ॥

मध्ये पञ्चाङ्गुलं जङ्घो मण्डलं त्रिगुणं भवेत् ।
सर्वत्र त्रिगुणं कार्यमङ्गुलीनां तथैव च ॥ 94 ॥

अपाङ्गलोचनञ्चैव स्तनौ तु कटिरेव च ।
ईषन्मानाधिकं कुर्याद्येन वृ(द्)ष्टिसु(दुः)खं भवेत् ॥ 95 ॥

॥ इति देवीलक्षणम् अष्टतालस्य ॥

1. दशाङ्गुलं-भो.

2. चाष्टादशाङ्गुला-भो.

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि बालानां मानलक्षणम् ।
 षड्गुणं बालरूपीणां सैनापत्यञ्च षड्गुणम् ॥ 96 ॥

विनायकानां यक्षाणां प्रतिमालक्षणं शुभम् ।
 गोलकं मूर्ध्नि विज्ञेयं¹ मुखं षड्गोलकस्य तु ॥ 97 ॥

ग्रीवा द्व्यङ्गुलं कुर्वीत देहे विंशाङ्गुलं भवेत् ।
 अर्द्धगोलकला नाभ्यां खनितं त्र्यङ्गुलं तथा ॥ 98 ॥

ऊरू सप्तकला कुर्यात् गोलकं जानुनी तथा ।
 पिण्डिकं षट्कलं कुर्याद् गुल्फमेकाङ्गुलं स्मृतम् ॥ 99 ॥

पार्श्विकं त्र्यङ्गुलं चैव यथावदनुपूर्वशः ।
 पादौ पञ्चकलं दीर्घमङ्गुष्ठगोलकं ततः ॥ 100 ॥

सूच्यङ्गुष्ठसमा कुर्याद् द्वियव [हीना] मध्यमा ।
 नखहीनं² अनामञ्च पर्व (यव) हीना कनीयसी ॥ 101 ॥

अष्टाङ्गुलेन हिक्कासो (तो) बाहू चैव नवाङ्गुलम् ।
 प्रबाहू पञ्चगोलञ्च करदीर्घं द्विगोलकम् ॥ 102 ॥

मध्यमाङ्गुलं द्वौ गोलं नखहीना प्रदेशिनी ।
 मध्यं पर्वनखाहीनं कारयेत्तदनामिका ।
 अनामिकापर्व (यव) हीना दीर्घाङ्गुष्ठकनीयसा³ ॥ 103 ॥

अथातः संप्रवक्ष्यामि⁴ विस्तारेण कलानि च ।
 द्विकलार्द्धं भवेन्मूर्ध्नि त्रिगुणं परिमण्डलम् ॥ 104 ॥

-
1. विज्ञेया-ख.
 2. मुखहीनं-ख.
 3. इतः परं 'इति सप्ततालस्य लक्षणम्'-भो.
 4. षट्तालस्य लक्षणम्-भो.

षट्कलं मुखमध्यं च कर्णनासाग्रमेव च ।
त्रिकरं (लं) ग्रीवमध्ये च कुक्षौ तु षोडशाङ्गुलम् ॥ 105 ॥

मध्ये षड्गोलं कायस्य कटिञ्च सप्तगोलकम् ।
ऊरुमध्यचतुर्गोला जानुद्विकलषड्यवम् ॥ 106 ॥

मध्ये पञ्चाङ्गुलञ्जङ्गं गुल्फं त्र्यङ्गुलमेव च ।
द्विकलाद्व्यङ्गुलं पादौ विस्तारेण प्रकीर्तितम् ॥ 107 ॥

नवयवाङ्गुष्ठकं चैव अन्तरं त्रियवं स्मृतम् ।
यवाष्टसूचिकं कुर्यात् यवसप्त च मध्यमम् ॥ 108 ॥

षड्यवानामिकां यस्य यवपञ्च कनीयसी ।
एवं कारयते विद्वान्यादाङ्गुलसुशोभनम् ॥ 109 ॥

त्र्यङ्गुलञ्च तथा पार्श्विण विस्तरेण प्रकीर्तिता ।
अष्ट चाङ्गुष्ठका चैव नवसप्तञ्च मध्यमा ॥ 110 ॥

॥ इति आत्रेयतिलके षडूपलक्षणम् ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि दशतालस्य लक्षणम् ।
ब्रह्मा च चर्चिकादेवी ऋषीणां ब्रह्मरक्षसाम् ॥ 111 ॥

दिव्यानां चैव बुद्धानां कारयेत्प्रतिमां शुभाम् ।
एतेषां कारयेद्विद्वान् अन्येषां नैव (चैव) कारयेत् ॥ 112 ॥

द्विगोलकं भवेच्छीर्षं मुखं षड्गोलमेव च ।
ग्रीवां द्विगोलकं कुर्याद्दिहं षड्विंशमङ्गुलम् ॥ 113 ॥

नितम्बं द्विकलं विद्धि कटिः पञ्चकलं भवेत् ।
 षड्¹विंशाङ्गुलकं ऊरू जानु पञ्चाङ्गुलौ स्मृतौ ॥ 114 ॥
 षड्²विंशाङ्गुलकौ जङ्घौ गुल्फौ त्र्यङ्गुलकौ स्मृतौ ।
 अधो भागा प्रकर्तव्या पञ्चाङ्गुलसुसंस्थिता ॥ 115 ॥
 बाहुभागाः प्रकर्तव्या अष्टगोलकमेव च ।
 दशगोलकविज्ञेया प्रबाहू च विपश्चिता ॥ 116 ॥
 करपल्लवभागश्च षट्कलं तु विजानन्तुः (त) ।
 एतेषां चेष्टमानानां कर्तव्यं शास्त्रचिन्तकैः ॥ 117 ॥

॥ इति आत्रेयतिलके दशताललक्षणम् ॥

³अथातः संप्रवक्ष्यामि सप्ततालस्य लक्षणम् ।
 शिरो त्र्यङ्गुलविज्ञेयं मुखं षट्कलमेव च ॥ 118 ॥
 ग्रीवा त्र्यङ्गुलविज्ञेया कम्बुग्रीवश्च कारयेत् ।
 ऊनविंशाङ्गुलं देवमानवृत्तसुशोभितम् ॥ 119 ॥
 एकाङ्गुलि नितम्बं च गोलं [च] कटिदेशकम् ।
 ऊनविंशाङ्गुलं ऊरूजानु त्र्यङ्गुलमेव च ॥ 120 ॥
 ऊनविंशाङ्गुलं जङ्घं गुल्फमेकाङ्गुलं मतम् ।
 त्र्यङ्गुलश्च अधोभागं प्रतिमा सप्ततालकम् ॥ 121 ॥
 अष्टाङ्गुलं प्रकर्तव्यं हिक्का चास्या(चांसा)ग्रमेव च ।
 बाहू अङ्गुलिविज्ञेया एकतालं प्रकीर्तितम् ॥ 122 ॥

1. त्रिंशा-भो.

2. त्रिंशा-भो.

3. 117 श्लोकात् 127 श्लोकपर्यन्तो पाठः भोटानुवादे न वर्तते ।

प्रबाहूसप्तगोलकं च कर्तव्यं मुनिसत्तम ।
 करपल्लवभागं च अष्टाङ्गुलं प्रकीर्तितम् ।
 मानुष्यप्रमाणं तु कर्तव्यं शास्त्रचिन्तकैः ॥ 123 ॥

॥ इति आत्रेयतिलके सप्तताललक्षणम् ॥

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि चतुस्तालस्य लक्षणम् ।
 एकाङ्गुलिशिरः कुर्यात् मुखं द्वादशमङ्गुलम् ॥ 124 ॥

ग्रीवा एकाङ्गुलं विद्धि देहं द्वादशमङ्गुलम् ।
 अर्द्धाङ्गुलनितम्बं च कटिमेकाङ्गुलं मतम् ॥ 125 ॥

नवाङ्गुलं भवेदूरु जानू एकाङ्गुलं स्मृतम् ।
 जङ्घा नवाङ्गुला ज्ञेया गुल्फमर्द्धाङ्गुलं भवेत् ॥ 126 ॥

अधो भागा प्रकर्तव्या एकाङ्गुलप्रकीर्तिता ।
 चतुःकलं च विज्ञेया हिवका चास्या(चांसा)ग्रमेव च ॥ 127 ॥

बाहू त्रिगोलकं चैव प्रबाहू अष्टमङ्गुलम् ।
 सप्ताङ्गुलमितं ज्ञेयं उच्छ्रितं करपल्लवम् ॥ 128 ॥

यथाशोभेन विज्ञेया कर्तव्या मांसवर्तनम्(नी) ।
 वामनस्य प्रमाणं तु कथितं मुनिसत्तम ॥ 129 ॥

॥ इति आत्रेयतिलके चतुस्तालस्य लक्षणम् ॥

महाप्रतिमाविन्यासं प्रवक्ष्याम्यधुना शृणु ।
 दशपञ्चाधिकैर्हस्तैः प्रतिमा कन्यसी स्मृताः ॥ 130 ॥

द्विगुणा मध्यमा ज्ञेया ज्येष्ठा तु त्रिगुणा स्मृताः ।
 अतः परं न कुर्वीत यदिच्छेत् श्रेयमात्मनः ॥ 131 ॥

दग्धा जीर्णा च भग्ना च स्फुटिता चापि देवताः ।
स्थितावस्थाप्यमाना वा सदा दोषकरा भवेत् ॥ 132 ॥

दग्धार्चया अनावृष्टिर्जीर्णार्चया धनक्षयः ।
भग्नार्चया कुले नाशः स्फुटिता युद्धमादिशेत् ॥ 133 ॥

अर्च्चा वा यदि वा लिङ्गं देवी मातृगणस्तथा ।
शीघ्रमुत्पाटयेदेव विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ 134 ॥

पुष्पार्घ्यं च तथा धूपं नैवेद्यं बलिमेव च ।
दत्त्वा च वाससी चैव होमकर्मसमन्वितः ॥ 135 ॥

विप्रशान्त्युदकं चैव वेद(देव)मन्त्रेण कारयेत् ।
बालरज्जु तथा मौञ्जं दुकूलक्षोमकस्तथा ॥ 136 ॥

विधिरेवं समुद्दिष्टं रज्जु चात्र विधीयते ।
वृषस्य ककुदे बद्ध्वा आकर्षेज्जीर्णदेवताम् ॥ 137 ॥

शैलीमयी भवेदर्च्चा तीर्थे बहूदकेषु च ।
नदीसङ्गमसंस्थाने तस्मिंश्चैव तु निक्षिपेत् ॥ 138 ॥

सौवर्णं रजतं चैव ताम्रं रैत्यमयीमपि ।
द्रावयेदग्निना सर्वं यदिच्छेच्छ्रेयमात्मनि ॥ 139 ॥

दारुमयी भवेदर्चा नववस्त्रेण वेष्टयेत् ।
घृतेन मधुना स्निग्धं दीप्तमग्नौ प्रदापयेत् ॥ 140 ॥

पार्थिवी च भवेदर्च्चा यदि स्यान्मृण्मयीमपि ।
भूखनित्वा शिरो मात्रे न्यसेत्तस्मिन् प्रपूरयेत् ॥ 141 ॥

अर्च्चा [वा] यदि वा लिङ्गं पुनः शीघ्रं तु स्थापयेत् ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना विधिदृष्टेन स्थापयेत् ॥ 142 ॥

द्विजश्च (जानां) बालवृद्धानां मानुषाणां शुभाय च ।

राजा जयमवाप्नोति शस्यवृद्धिकरं भवेत् ॥ 143 ॥

जीर्णोद्धारणमर्चानां कृत्वा(तं) येन महात्मना ।

युगकोटिशतसहस्रं देवलोके महीयते ॥ 144 ॥

॥ आत्रेयतिलके जीर्णोद्धारः समाप्तः¹ ॥

1. इतः परं मातृकायां मूर्तीनामायामव्यामपरिणाहसूचिका तालक्रमेण परिगणिता—

नवतालस्यैकत्वेनाङ्गुलि 108 शिरोऽङ्गुलि 4 मुखाङ्गुलि 12 ग्रीवाङ्गुलि 4 देहाङ्गुलि 24 नितम्बाङ्गुलि 2 कट्यङ्गुलि 4 ऊर्वङ्गुलि 24 जान्वङ्गुलि 4 पिण्डाङ्गुलि 24 गुल्फाङ्गुलि 2 अधोभागाङ्गुलि 4 हिक्काशा(सा)ग्राङ्गुलि 17 बाहूभागाङ्गुलि 15 प्रबाहूङ्गुलि 18 करभागाङ्गुलि 12 यवभागपरिसंख्या एकत्वेन 854 ॥

अष्टतालस्य एकत्वेनाङ्गुलि 96 शिरोऽङ्गुलि 3 मुखाङ्गुलि 12 ग्रीवाङ्गुलि 3 देहाङ्गुलि 22 नितम्बाङ्गुलि 1 कट्यङ्गुलि 3 ऊर्वङ्गुलि 22 जान्वङ्गुलि 3 पिण्ड्यङ्गुलि 22 गुल्फाङ्गुलि 1 अधोभागाङ्गुलि 3 हिक्काशा(सा)ग्राङ्गुलि 9 बाहूङ्गुलि 14 कराङ्गुलि 12 एकत्वेन यव संख्या 768 ॥

षट्तालस्य एकत्वेनाङ्गुलि 72 शिरोऽङ्गुलि 2 मुखाङ्गुलि 12 ग्रीवाङ्गुलि 2 देहाङ्गुलि 16 नितम्बाङ्गुलि 1 कट्यङ्गुलि 2 उर्वङ्गुलि 16 जान्वङ्गुलि 2 पिण्ड्यङ्गुलि 16 गुल्फाङ्गुलि 1 अधोभागाङ्गुलि 2 हिक्काशा(सा)ग्राङ्गुलि 14 बाहूङ्गुलि 10 प्रबाहूङ्गुलि 12 करपल्लवाङ्गुलि 8 एकत्वेन यवसंख्या 576 ॥

दशतालस्य एकत्वेनाङ्गुलि 120 शिरोऽङ्गुलि 4 मुखाङ्गुलि 12 ग्रीवाङ्गुलि 4 देहाङ्गुलि 26 नितम्बाङ्गुलि 4 कट्यङ्गुलि 5 ऊर्वङ्गुलि 26 जान्वङ्गुलि 5 जङ्घाङ्गुलि 26 गुल्फाङ्गुलि 3 अधोभागाङ्गुलि 5 हिक्काशा(सा)ग्राङ्गुलि 16 बाहूङ्गुलि 18 प्रबाहूङ्गुलि 16 करपल्लवाङ्गुलि 12 एकत्वेन यवसंख्या 960 ॥

सप्ततालस्यैकत्वेनाङ्गुलि 84 शिरोऽङ्गुलि 3 मुखाङ्गुलि 12 ग्रीवाङ्गुलि 3 देहाङ्गुलि 19 नितम्बाङ्गुलि 1 कट्यङ्गुलि 2 ऊर्वङ्गुलि 19 जान्वङ्गुलि 3 पिण्ड्यङ्गुलि 19 गुल्फाङ्गुलि 1 अधोभागाङ्गुलि 2 हिक्काशा(सा)ग्राङ्गुलि 5 बाहूङ्गुलि 12 प्रबाहूङ्गुलि 14 करपल्लवाङ्गुलि 10 एकत्वेन यवसंख्या 672 ॥

चतुस्तालस्यैकत्वेनाङ्गुलि 48 शिरोऽङ्गुलि 1 मुख 12 ग्रीवा 1 देहाङ्गुलि 12 नितम्ब... कटिमेकाङ्गुलि 1 ऊरु 9 जानु 1 पिण्डी 9 गुल्फ... पार्श्वि 1 हिक्काशा(सा)ग्र 8 बाहू 6 प्रबाहू 8 करपल्लव 7 एकत्वेन यवसंख्या 384 ॥ (ख. मातृका अत्र समाप्ता)

अपरं च—

विधुचापसमश्चेव वह्निवेदगुणस्तथा ।

न्यूनाधिकं यथा कुर्यात् यवरा समुदावहा ॥

नेपालश्रीश्रीचक्रसंवरमण्डलाकारवङ्कुविहारमहाबुद्धस्य प्रवरमहायानिक..... मुक्तामुनिना लिखितं सर्वजगतो हिताय शुभमस्तु ॥ संवत् 763 अश्वनिमासे शुक्लपक्षे दशम्यां बुधदिने सम्पूर्णमिदं पुस्तकम् ।

ABSTRACT OF ARTICLES

Stotra

1-4

Namaskārāṣṭakam is extracted from the first *prakaraṇa* (22-29) of the second *paṭala* of the *Samputatantra*. The hymn is in the context of *abhiṣeka*. The designation is editor's discretion. *Bhagavannāmāṣṭottaraśatastotram* is extracted from 26th *paṭala* of the *Sarvatathāgatattva-saṃgraha*. The title, as such is given by the editors. The *Pañcākṣarasastotram* is taken from the Collection titled *Bauddhastotrasaṃgraha*.

The Buddhist Esoteric Literature : Samputa and Pañcakrama

5-14

We have introduced many valuable tantra treatises under this column in the various issues of our journal. In this issue fuller details are available concerning the *Samputatantra* and ācārya Nagarjuna's *Pañcakrama* exposed in relative tracts. For the publication of the above material possibly all related Sanskrit mss. and their commentarial content have been consulted.

Glossary of Buddhist Technical Terms

15-44

The article is a collection of technical terms and their meaning as given in the Buddhist Esoteric texts. Here we have collected relevant materials from “Śriherukābhīdhāna Cakrasaṃvaratantra Bhavabhaṭṭa Kṛtaya Vivṛtaya Sametaṃ”, a comprehensive glossarial work.

Āryacaturdharmanirdeśasūtram

45-52

There are three similar minor *sūtras* enumerated as 1. “Āryacaturdharmanirdeśamahāyānasūtra”, 2. “Āryacaturdharmakanāma mahāyānasūtra” and 3. “Caturdharmakasūtra”, which occur in the Buddha-vacana (bkaḥ-ḥgyur). These *sūtras* are similar in their dimension and general features, but they are different from the viewpoint of thematic exposition. The first of these *sūtras* stresses the method of purification of

sin by the antidotal method. Although it is conceded that purification of sinning action has been emphasised in many of *sūtras* discoursed by the tathāgata : for example the *śikṣāsamuccaya* gives citations from *āryasuvarṇaprabhāsottamasūtra* in the chapter on purification of sin, the number of *sūtras* cited in this context is no less then twenty. But “*āryacaturdharmanirdeśanāma mahāyānasūtra*”, very specifically elucidates the subject and is no subsidiary work.

A modest work, in size, it is most important, specially as it has been edited with original Tibetan text restored into Sanskrit and published here with its Hindi translation.

The Eight Bauddha-mahācaitya : Their form and Varieties

53-62

It is known that the construction of *caityas* had started in the life time of Buddha. Relating the occasion of the first temple construction, the article specifies the form of the *avaśeṣa* and *dharmakāyacaitya*. Construction of rest of the *caityas* including the *Padmakāṭaka-caitya*, the form and symbolic motifs of the eight *caityas* are described after the Tibetan canon of architectonic principles. The *caityas* are variously described in esoteric works, where the place and purpose of building the *caityas* is transparently connoted. This follows a discussion on the distinction between *stūpa* and *caitya* in the primal basis.

Sources of Rare Texts

63-83

We noticed 44 important mss. of *avadāna* literature in the 34th issue of the journal. Further information about 70 more mss. is given here which should through light on these rare volumes.

Reflecting Over Jñānacakra as Expounded in Hevajrasādhana

84-98

In the 28th issue of *Dhīh* some elementary reflections were published in regard to meditation of *Hevajra* as given in the text of *Hevajrasāadhanopāyikā* by ācārya Saroruhapāda (Padmavajra),

Hevajrasādhana vajrapradīpaṭippaṇī by Jālandharapāda and *Prakāśanāma Hevajrasādhana* by ācārya Rāhulaguptapāda.

The residual description of *jñāracakra* and *abhiṣeka* and some other methods are commented here.

Outline of Esoteric Literature

99-110

In the inventory of Buston's collective work there is a comprehensive glossarial text titled "rGyud sde spyihi rnam gshag bsdus pa rgyud sde rin-pochehi gter sgo hbyed pahi lde mig". A Hindi translation of this eminent work is given here. In particular, we are citing the four types of tantra from the chapter on the different esoteric systems; with inquiries as why number four is fixed in this regard and what does tantra specifically mean and how it is derived and split into two essential classes. The delineation is in Hindi.

Review : "Kāśmīra Śaivādvayavāda kī Mūla Avadhāraṇāḥ",
(in Hindi)

111-116

This important publication relating to kāśmīra śaivism developed in the early medieval period is a philosophical work discussing the various śaivite doctrines and systems including *kaulācāra*. Being a late expository work on śaivism it discusses many polemical issues for which the author provides easy solution. This work will clarify problems which have not been previously properly tackled.

Samyaksambuddhabhāṣita Pratimālakṣaṇam
(A Brief Introduction)

117-136

According to archeologists the first Buddha image was made in the beginning of the *kuṣāṇa* period (1st Cent. A.D.). Although traditions aver the carving of Buddha image and its form in painting evolved in Buddha's own life time. Buddha had given instruction to his disciples to make his image and intern bodily remains in *stūpas*. Luckily, a valuable text on

iconography entitled “*Samyaksambuddhabhāṣitapratimālakṣaṇam*” has been recovered from the labyrinth of Sanskrit manuscripts. Curiously enough, a Tibetan translation of the above work is also available. It is a manual containing full details of measurement and general features of Buddha image.

We are ambitiously, without a critical analysis, publishing this tract in the journal. It accompanies a glossarial preface to explain the content.

Ātreyatilakam (Pratibimbalakṣaṇam)

137-154

There is a comprehensive text of iconography in the archives of manuscripts. It is titled *pratibimbalakṣaṇam* ascribed to sage Ātreya. It is variantly called *ātreyatilakam*. The text contains visualisation and physical description of many gods and goddesses among whom the image of Buddha is also conspicuously described. The importance of *Ātreyatilakam* lies in the description of canonical principles of *Buddha pratimā*. Of special significance are sections including the *tālamāna* (measure; standard) as: *navatāla*, *daśatāla*, *aṣṭatāla*, *saptatāla*, *ṣaḍtāla* used for the image of Tathāgata and other gods. The various measures are defined in *tāla*, *vitasti*, *gola*, *kalā*, *aṅguli* and *yava* and such other accessories. As a basic text of iconography it is most useful for all workers in art and scholars. This text is being published here in its available form. It is conceded that great sin accrues from a wrong measurement and if worshipped in the form of *torso* or as effaced. Such images are to be thrown away in a river or sanctified place.

ཙམ་གྱི་ངོ་སྟོང་མདོར་བསྟུན།

ཕྱག་འཆལ་བའི་བསྟོད་པ་བརྒྱད།

༡ - ༡

བསྟོད་པ་འདི་ནི་སྐུ་རྩལ་གྱི་བརྟག་པ་གཉིས་པའི་རབ་བྱེད་དང་པོའི་ཆོག་ས་བཅད་ཉེས་
གཉིས་ནས་ཉེར་དག་བར་རྣམས་ཡིན། དེར་དབང་གི་སྐོར་བསྟན་སྐབས་བསྟོད་པ་འདི་སྟོབ་མས་
བཟོད་པ་ཡིན། བསྟོད་པ་འདིའི་འགོ་བཟོད་ནི་ཞུས་སྒྲིག་པས་བཞོད།

བཙམ་ལྷན་འདས་ཀྱི་མཆན་བརྒྱ་ཙ་བརྒྱད་ཀྱི་བསྟོད་པ།

༢ - ༢

བསྟོད་པ་འདི་ནི་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་བསྟུས་པ་ཞེས་བྱ་བའི་གཞུང་
གི་ལེའུ་ཉེར་དྲུག་པ་ལས་སྤངས་གིང་བསྟོད་པ་འདིའི་འགོ་བཟོད་ཀྱང་ཞུས་སྒྲིག་པས་བཞག་པ་ལོ།

ཡི་གེ་ལྟའི་བསྟོད་པ།

༣ - ༣

བསྟོད་པ་འདི་ནང་པའི་བསྟོད་པ་ཕྱོགས་བདུས་ཞེས་པ་ལས་བཏོན་ཏེ་འདིར་བཞོད་པ་ཡིན།

ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་གི་ངོ་སྟོང་ལས་སྐུ་རྩལ་དང་རིམ་ལྟའི་རྒྱུད།

༤ - ༡༧

རྒྱུ་ཡི་འདོན་ཐངས་སྡེ་མ་རྣམས་སུ་འགོ་བཟོད་འདིའི་འོག་གལ་ཆེ་བའི་རྒྱུད་གཞུང་ཁག་གི་ངོ་
སྟོང་བསྟན་ཟིན། འདོན་ཐངས་འདིར་སྐུ་རྩལ་གྱི་རྒྱུད་དང་། སྟོབ་དཔོན་སྐུ་སྐྱེ་གིས་མཛད་པའི་རིམ་ལྟ་
དང་འབྲེལ་བའི་རྒྱུད་གཞུང་གི་ལེགས་སྦྱར་མ་དཔེ་ཁག་དང་། དེ་དག་གི་འབྲེལ་པ་དང་། དེ་དག་
དང་འབྲེལ་བའི་དེང་དུས་དཔར་བསྐྱར་ཞུས་པའི་གཞུང་དང་ཉམས་ཞིབ་བྱས་པའི་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་
ཀྱི་ངོ་སྟོང་བྱས་ཡོད།

ནང་པའི་ཐུན་མེན་ཆོས་ཆོག་ཁག་གི་དགོངས་དོན།

༡༣ - ༧༧

འགོ་བཅོལ་འདིའི་འག་ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་སུ་གསལ་བའི་ཐུན་མེན་ཆོས་ཆོག་ཁག་གི་
མཚན་ཉིད་དང་དེ་དག་གི་དགོངས་དོན་སྣ་ཆོགས་པ་རྣམས་ཀྱི་ཕྱོགས་བརྒྱུས་བྱེད་བཞིན་ཡོད།
འདོན་ཐེངས་འདིར་ནང་པའི་ཆོས་དགོན་གསུང་རབ་སྡེ་ཆོན་ནས་དཔར་བསྐྱུན་ཞུས་པའི་དཔལ་འཁོར་
ལོ་བདེ་མཆོག་དང་དེའི་འགྲེལ་བ་སློབ་དཔོན་ལྷབ་ལྷུང་ས་མཛད་པའི་རྒྱུད་གཞུང་ལས་ཕྱོགས་བརྒྱུས་
བྱས་པའི་ཆོས་ཆོག་རྣམས་བཀོད་ཡོད།

སྤྲིག་སྤྲིབ་སྦྱོང་བའི་ཐབས་འཕགས་པ་ཆོས་བཞི་བསྟན་པ་ཞེས་བྱ་བའི་

མདོའི་དོ་སྦྱོང་མདོར་བསྟུས།

༧༣ - ༧༢

རྒྱལ་བའི་བཀའ་འགྲུར་ནང་“འཕགས་པ་ཆོས་བཞི་བསྟན་པ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐེག་པ་ཆེ་འི་
མདོ”དང་། “ཆོས་བཞི་པའི་མདོ”དང་། “འཕགས་པ་ཆོས་བཞི་བསྟན་པ་ཞེས་བྱ་བ་ཐེག་པ་ཆེ་འི་
མདོ”ཞེས་མཚན་བྱང་འབྲུ་ཆོས་ཆེ་བའི་མདོ་ཆོན་གསུམ་ཡོད་ཀྱང་། བཅོལ་བྱ་བསྟན་ཚུ་ཀྱི་གྲི་ཆ་
ནས་ཐ་དད་ཡིན། དེ་དག་ལས་མདོ་དང་པོ་དེས་གཉེན་པོ་སྟོབས་བཞིའི་སྟོན་ནས་སྤྲིག་སྤྲིབ་པའི་རྒྱུ་
སྟོར་གསལ་བར་བསྟན་ཡོད། སྤྲིབ་སངས་རྒྱས་ཀྱི་གསུང་རབ་ནང་འཕགས་པ་ཆེ་བར་འཁོར་གྱི་ཞུས་
པ་དང་། “གསེར་འོད་དམ་པའི་མདོ”སྟགས་མདོ་ཇི་སྟེང་ཅིག་ཏུ་སྤྲིག་སྤྲིབ་སྦྱོང་ཚུལ་ཀྱི་ར་བསྟན་
སྦྱང་སྟེ། དེ་ཡང་རྒྱལ་ལྷན་ཞི་བ་ལྷན་བསྐྱབ་བརྒྱུས་སུ་མདོ་ཉི་ཤུ་ལྷག་གི་ཁྲངས་བཀོད་མཛད་ནས་
དེ་བསྟན་པར་མཛད་ཡོད། སྐབས་འགྲེལ་གྱི་གཞུང་“འཕགས་པ་ཆོས་བཞི་བསྟན་པ་ཞེས་བྱ་བའི་
མདོ”འདི་ནི་གཉེན་པོ་སྟོབས་བཞིའི་སྟོན་ནས་སྤྲིག་སྤྲིབ་སྦྱོང་ཚུལ་སྟོན་བྱེད་ཀྱི་མདོ་དང་མཚན་པ་
གལ་ཆེ་ཞིག་ཡིན། མདོ་འདིའི་ཆ་ཤས་པལ་ཆེ་བ་ལེགས་སྦྱར་སྟེང་ཐོག་བསྐྱབ་བརྒྱུས་ནང་བཀོད་
པར་མཛད་ཡོད། ཡིག་ཆོགས་ཀྱི་ཆ་ནས་གཞུང་འདི་ཏ་ཅང་བསྟུས་ཤིང་རྒྱུད་ཞིང་ཏུ་མདོན་ཡང་།

བཟོད་དོན་གྱི་ཆ་ནས་ལས་སྒྲིབ་ངན་པ་སྤྱོད་ཐབས་སུ་མེད་ཐབས་མེད་པའི་གཞུང་ཤིན་ཏུ་གཤམ་ཆེ་
 ཞིག་ཡིན་པས་མཆོག་ཏུ་སྤང་བར་བྱ་བ་ཞིག་གོ། །འདིར་གཞུང་འདིའི་ཙ་བའི་མ་ཕྱི་བོད་འགྱུར་སྤར་
 མ་དང་ལྷན་དུ་ལེགས་སྤར་སྒྲིབ་ཐོག་བསྒྲུར་གསོ་དང་འབྲེལ་ཉིན་སྤར་ཐོག་པའ་བསྒྲུར་ཁུས་ནས་དུས་
 དེབ་འདིའི་ནང་དཔར་བསྒྲུན་ཁུས་ཡོད།

ནང་པའི་མཆོད་རྟེན་རྣམ་བརྒྱད་ཀྱི་དབྱིབས་དང་རྣམ་པ། ༡༢ - ༩༢

ནང་པའི་མཆོད་རྟེན་བཞེངས་པའི་ཚུལ་ནི་སྔོན་སངས་རྒྱུས་ཞལ་བཞུགས་པའི་དུས་ནས་འགོ་
 འཛུགས། ཚུམ་བྱིས་འདིའི་ནང་ཐོག་མར་མཆོད་རྟེན་ཇི་ལྟར་བཞེངས་འགོ་འཛུགས་པ་དང་། ཆོས་
 སྤྱིའི་མཆོད་རྟེན་དང་སྐུ་གདུང་(རིང་བསྐེལ་)མཆོད་རྟེན་གྱི་རྣམ་པ་བཅས་བསྟན་ཡོད། དེ་ཇེས་
 མཆོད་རྟེན་རྣམ་བརྒྱད་ཀྱི་ཆད་དང་བོད་ལུགས་ལྟར་འཛིན་པའི་བད་སྤྱངས་སོགས་མཆོད་རྟེན་རྣམ་
 པ་བརྒྱད་ཀྱི་དབྱིབས་དང་སོ་སོའི་མཆོན་དོན་རྣམས་བཤད་ནས། རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་སུ་བསྟན་པའི་
 མཆོད་རྟེན་གྱི་གསལ་བཤད་དང་མཆོད་རྟེན་ཆེན་པོ་བརྒྱད་བཞེངས་པའི་གནས་དང་དེའི་མཆོན་དོན་
 ཀྱང་བཤད་ཡོད། མཐར་སྐབ་དང་ཅེ་ཏུ་ཞེས་པའི་ཆོག་གཉིས་ལ་དབྱུང་བ་དང་ཆོག་གཉིས་ཀྱི་ཙ་བའི་
 བྱང་པར་རྣམས་བསྟན་རྒྱུའི་འབད་བརྩོན་བྱས་ཡོད།

ཆོས་དགོན་གསུང་རབ་ཁག་གི་ཙ་བའི་མ་དཔེ། ༩༢ - ༤༢

འགོ་བཟོད་འདིའི་འོག་དུས་དེབ་སོ་བཞི་པའི་ནང་གཤམ་ཆེའི་རྟོགས་བཟོད་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་
 བཞི་བཅུ་ཞེ་བཞིའི་ངོ་སྤྲོད་བྱས་ཏེ། འདིར་འདོན་ཐེངས་སུ་མའི་འབྲོས་ཀྱི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་
 བདུན་ཅུའི་སྒོར་གྱི་ངོ་སྤྲོད་བཞེད་ཡོད།

དབྱེས་དོར་སྐྱབ་ཐབས་ནང་བསྐྱན་པའི་ཡེ་ཤེས་འཁོར་ལོའི་གསལ་བཤད། ༧༧ - ༧༨

རྫོང་ལྷ་དེའི་ཉེར་བརྒྱད་པའི་ནང་སྐྱབ་དཔོན་སར་རྩུ་ཞབས་སམ་བསྐྱ་བཟླ་ས་མཛད་པའི་
དབྱེས་དོར་སྐྱབ་ཐབས་དང་། སྐྱབ་དཔོན་རྣམས་ཞབས་ཀྱིས་མཛད་པའི་དབྱེས་དོར་སྐྱབ་ཐབས་དོ་
རྩེ་སྐྱན་མའི་འབྲེལ་བ་དང་། སྐྱབ་དཔོན་རྣམས་ཞབས་ཀྱིས་མཛད་པའི་དབྱེས་དོར་སྐྱབ་ཐབས་
རབ་གསལ་ཞེས་བྱ་བ་གོང་བོད་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་ལ་གཞི་བྱས་ནས་དབྱེས་དོར་སྐྱབ་ཐབས་སུ་
གསལ་བའི་གལ་ཆའི་གནད་རྣམས་ཀྱི་གསལ་བཤད་བྱས་ཡོད།

ད་ལན་འདོན་ཐངས་འདིར་དེའི་འཕྲོས་ཀྱི་ཡེ་ཤེས་འཁོར་ལོ་དང་དབང་ལ་སོགས་པ་རྣམས་ཀྱི་
གསལ་བཤད་བྱས་པ་བསྐྱན།

བྱ་སྐྱན་རིན་པོ་ཆེས་མཛད་པའི་རྒྱུད་སྡེ་སྤྱིའི་རྣམ་གཞག་བསྐྱས་པ། ༧༧ - ༡༡༠

རྫོང་ལྷ་དེའི་ཀྱི་འདོན་ཐངས་སྡེ་མ་རྣམས་སུ་བོད་ཀྱི་མཁས་དབང་བྱ་སྐྱན་རིན་པོ་ཆེས་མཛད་
པའི་“རྒྱུད་སྡེ་སྤྱིའི་རྣམ་གཞག་བསྐྱས་པ་རྒྱུད་སྡེ་རིན་པོ་ཆའི་གཏེར་སྐྱོ་འབྲེད་པའི་ལྷེ་མིག་”ཅེས་པ་
ཉིན་སྐད་ཐོག་པ་བསྐྱར་ཞུས་པའི་རིམ་པ་ལྟ་འབྲེད་དེ། འདོན་ཐངས་འདིར་རྒྱུད་ཀྱི་དབྱེ་བའི་ནང་
གསེས་ལས་རྒྱུད་སྡེ་བཞིར་གྲངས་ངེས་ཚུལ། གྲངས་ངེས་ལ་ཚུད་སྟོང་། མིང་གི་རྣམ་གྲངས། ངེས་
ཆོག་དང་རྒྱུད་སྡེ་དེ་དག་ཐམས་ཅད་ཕྱི་ནང་གཉིས་སུ་བསྐྱུ་ཚུལ་བཅས་ཉིན་སྐད་ཐོག་པ་བསྐྱར་
བྱས་ཡོད།

ཀླུ་མིའི་དབང་ཕྱུག་པ་གཉིས་མེད་སྤྱི་བའི་ཙ་བའི་ལྷ་ཚུལ་ཞེས་པ་ལ་བསྐྱར་ཞིབ། ༡༡༡-༡༡༩

“ཀླུ་མིའི་དབང་ཕྱུག་པ་གཉིས་མེད་སྤྱི་བའི་ཙ་བའི་ལྷ་ཚུལ་”ཞེས་བྱ་བའི་དེའི་ལ་རྫོང་ལྷ་དེའི་
ནང་བསྐྱར་ཞིབ་ཀྱི་ཆེད་དཔར་སྐྱན་པ་ལས་ཐོག་ལོ་རྒྱུས་ཀྱི་ཐོག་གཞུང་འདི་ལོ་ལྷ་བ་ནི་ལྷ་བ་ཐམས་

ཅད་ལས་སྤྱིས་བྱུང་བ་ཞིག་ཡིན་པས། ལྷ་བ་འདི་མ་བྱུང་བའི་གོང་དུ་བྱུང་བའི་ལྷ་བ་ནམས་ཀྱི་
དྲོགས་གནད་པལ་ཆེར་འདི་ལ་བརྟེན་ནས་སེལ་བྱས། དེར་བརྟེན་དོན་གཉིས་ཅན་ནམས་ལ་ཕན་པའི་
སྤྱད་དུ་གཞུང་འདི་ལ་བསྐྱར་ཞིབ་བྱས་པ་དཔར་སྐྱན་ཞུས་ཡོད།

སངས་རྒྱུས་ཀྱིས་གསུངས་པའི་སྐྱའི་གཟུགས་བརྟན་གྱི་མཆན་ཉིད། ༡༢༧ - ༡༢༩

དེར་དུས་དངོས་རྒྱུད་རིག་པའི་ལུགས་ལྟར་ན་སངས་རྒྱུས་ཀྱི་སྐྱའི་གཟུགས་བརྟན་ཀུལ་ཆའི་
དུས་རབས་ནས་བཞེངས་འགོ་འཛུགས་ཀྱང་སྟོལ་བྱུན་ལྟར་ན་སངས་རྒྱུས་རང་ཉིད་ཀྱི་སྐྱ་དུས་སུ་
འབྱར་སྐྱ་དང་བྱིས་སྐྱ་བཞེངས་འགོ་འཛུགས་ཡོད། རྟོན་པས་རང་ཉིད་ཀྱི་སྐྱ་གཟུགས་དང་ཁམས་ཀྱི་
ལུགས་ལུས་ནམས་ལས་མཆོད་རྟེན་བཞེངས་པའི་གནད་བ་སྤྱིན། བཛོད་གཞི་དེ་དང་འབྲེལ་བ་པོད་
འབྱར་ཐོག་ཡོད་པའི་གཞུང་སངས་རྒྱུས་ཀྱིས་གསུངས་པའི་སྐྱའི་གཟུགས་བརྟན་གྱི་མཆན་ཉིད་
བསྟན་པ་དེའི་ལེགས་སྐྱར་མ་དཔེ་གཅིག་བྱ་རྟེན་སོན་བྱུང་ཡོད། དེའི་ནང་སངས་རྒྱུས་ཀྱི་སྐྱ་
གཟུགས་བཞེངས་པའི་ཆད་དང་མཆན་ཉིད་བཅས་བསྟན་པ་འདིར་བྱས་བསྐྱེགས་ཀྱིས་རྫོང་དུས་དེབ་
སྟོག་པ་པོ་ནམས་ལ་ཕན་པའི་སྤྱད་དཔར་སྐྱན་ཞུས། དེ་དང་ཆབས་ཅིག་གཞུང་འདི་དང་འདིའི་ནམ་
འབྲེལ་གྱི་ཙ་བའི་མ་དཔེ་གཉིས་པོ་ལྟར་དུ་རྟེན་སོན་བྱུང་བ་དེ་དག་གི་དཔར་སྐྱན་ཞུས་ཡོད།

སྐྱ་གཟུགས་ཀྱི་ཆད་ཀྱི་མཆན་ཉིད་ཅེས་བྱ་བ་(ཡུའེལ་ཏིལ་ཀམ།) ༡༢༧ - ༡༣༠

བྲམ་ཟེ་ཆེན་པོ་ཡུའེལ་བྱས་མཛད་པའི་སྐྱ་གཟུགས་ཀྱི་མཆན་ཉིད་ཅེས་བྱ་བའི་ཙ་བའི་མ་དཔེ་
སྟོགས་བསྐྱར་ནང་ཡུའེལ་ཏིལ་ཀམ་ཞེས་བྱ་བའི་མཆན་ཐོག་ལུང་འབྲེན་བྱས་ཡོད། དེའི་ནང་ལྷ་གཞན་
ནམས་དང་སངས་རྒྱུས་ཀྱི་སྐྱ་གཟུགས་ཀྱི་ཆད་ཀྱང་བཀོད་ཅིང་། ལྷག་པར་མཐོ་དགུ། མཐོ་བཅུ།
མཐོ་བརྒྱད། མཐོ་བདུན་དང་མཐོ་དྲུག་གི་སྐྱ་གཟུགས་བཞེངས་པའི་ཆད་ལ་སོར་མོ་བཅུ་གཉིས་དང་།
མཐོ་གོལ། ཀལ། མཛུབ་མོ་དང་ནས་ལ་སོགས་ཀྱིས་སྟོན་སྐྱ་གཟུགས་བཞེངས་པའི་ཆད་

ནམས་བསྟན་ཡོད། བཟླ་བའི་དེས་སྐྱ་གཟུགས་ཀྱི་ཚད་ཀྱི་མཚན་ཉིད་བསྟན་པ་མཆོ། དེ་ནི་བཟོའི་
 རིག་པར་སློབ་གཉེར་གནང་མཁན་ནམས་ལ་ཤིན་ཏུ་ནས་གལ་ཆེ་ཞིང་། གཞུང་འདི་སྐྱ་གཟུགས་དང་
 འབྲེལ་བ་ཡོད་པའི་ཆ་ནས་ཐམས་ཅད་ལ་ཕན་ཐོག་ཆེ་བ་ཡིན། དེར་བརྟེན་དགོས་མཁོ་ལ་བལྟས་
 ནས་གཞུང་འདི་ཇི་ལྟར་རྟོག་པ་ལྟར་དཔར་སྐྱ་གཟུགས་པ་ཡིན།

དེར་སྐྱ་གཟུགས་ཀྱི་ཚད་ལ་ཆད་ལྷག་ཤོར་ཆེ་དེའི་ཉེས་སྦྱོར་ནམས་ཀྱི་གསལ་བཤད་དང་། དེ་
 དང་ཆབས་ཅིག་སྐྱ་གཟུགས་འཛིག་པ་དང་རྟོག་པ་སོང་བ་ནམས་ཇི་ལྟར་གཤེགས་སུ་གསོལ་
 བའི་ཐབས་ཀྱང་བསྟན་ཡོད།

...

CENTRAL INSTITUTE OF HIGHER TIBETAN STUDIES
SARNATH, VARANASI

List of books published under Rare Buddhist Texts Series

1. Guhyādi-Aṣṭasiddhi Saṁgraha (1988) : Rs. 115 Hb, 90 Pb.
2. Jñānodaya Tantram (1988) : Rs. 15Pb.
3. Durlabha Grantha Paricaya Vol. I (1990) : Rs. 55Hb.
4. Durlabha Grantho kī Ādhāra Sāmagrī, Vol. I (1990) : Rs. 40Hb.
5. Bauddha Tantra Kosha, Vol. I (1990) : Rs. 45Hb, Rs. 40Pb.
6. Lupta Bauddha Vacana Saṁgrah, Vol. I (1990) : Rs. 40Hb, Rs. 30Pb.
7. Vasantatilaka of Kṛṣṇapāda with Auto-commentary. (1990) :
Rs. 95Hb, Rs. 70Pb.
8. Dākinījālasaṁvararahasyam (1990) : Rs. 15Pb.
9. Kṛṣṇayamāri Tantra with Ratnāvalīpañjikā of Kumaracandra (1992) :
Rs. 150Hb, Rs. 100Pb.
10. Mahāmāyā Tantra with Guṇavatiṭikā of Ratnākaraśānti (1992) :
Rs. 70Hb, Rs. 50Pb.
11. Abhisamayamañjarī of Śubhākaragupta (1993) : Rs. 35Pb.
12. Vimalaprabhāṭikā, Vol. IIInd, Rs. 110Hb, Rs. 75Pb.
13. Vimalaprabhāṭikā, Vol. IIIrd, Rs. 110Hb, Rs. 70Pb.
14. Bauddha Tantra Kosha, Vol. II (1997) : Rs. 100Hb, Rs. 85Pb.
15. Sūtratantrodabhava katipaya Dharaṇīmantra (1997) : Rs. 75Hb,
Rs. 55Pb.
16. Adhyātmasāraśatakam (1997) : Rs. 40Pb.

17. Durlabha Bauddha Grantha Paricaya, Vol II (1997) : Rs. 150Hb, Rs. 125Pb.
18. Durlabha Grantho kī Ādhāra Sāmagrī, Vol. II (1997) Rs. 180Hb, Rs. 150Pb.
19. Bauddha Laghu Grantha Saṁgraha (1997) : Rs. 110Hb, Rs. 80Pb.
20. Siddhaikavīramahātantram (1998) : Rs. 90Hb, Rs. 60Pb.
21. Yoginīsañcāratāntram with Ṭīkā (1998) : Rs. 170Hb, Rs. 140Pb.
22. Caryāmelapakapradīpam of Āryadeva (2000) Rs. 160Hb, Rs. 110Pb.
23. Tattvajñānasamśiddhi with Commentary : (2000) Rs. 135 Hb, Rs. 100Pb.
24. Kurukullākālpaḥ : (2001) Rs. 100Hb, Rs. 65Pb.
25. Lupta-Baudha-Vacana-Saṁgraha : Vol. II, (2001) Rs. 110Hb., Rs. 70Pb.
26. Śrīcakrasaṁvaratantram with Vivṛtti by Bhavabhaṭṭa, Vol. I-II, (2002), Rs. 400Hb, Rs. 300 Pb (set of 2 vols.).
27. Sampādana Ke Siddhānta Aur Upādana : (Collection of Articles) (1990) Rs. 150Hb, Rs. 100Pb.
28. Bhāratiya Tantraśāstra (Proceedings of Workshop) (1995) : Rs. 380Hb, 220Pb.
29. **Dhīh:** Back issues of the journal are also available in limited number.
Complete set (Vol. I to XXXV): Total Rs. 2354.00.

